'युगल'

कृत

द्विधा

मूल्य : चार रुपये

: १ :

मैंने विवाह को किस्मत मानकर ही वरण किया था। 'वरण किया था' इसलिए कहती हूँ कि इसकी स्वीकृति में मेरा कोई चाव नहीं था। जिस कुमार को मेरा पति बना दिया गया था, उसे मैं नहीं चाहती थी। लेकिन भैया के आगे मेरा कोई वश नहीं चला। सो कुमार के साथ बाँध दी गयी। इस बन्धन में जबरदस्ती ज्यादा थी। इसीलिए कहती हूँ कि विवाह को मैंने किस्मत मानकर वरण किया था।

पत्नी बनकर जब मैं कुमार के घर में आयी, तो देखा कि अब तक जहाँ मैं खेलती-खाती रही हूँ और जिस फैलाव में रही हूँ, वैसा कुछ इस घर में नहीं है। यह घर साधारण गृहस्थ का है।

यहाँ जब मैं आयी, तब सास थीं, ससुर थे। पति तब पढ़ रहे थे। पढ़ ही रहे थे कैसे कहूँ? इलाहाबाद में थे। किसी मासिक पत्र के दफ्तर में काम करते थे और पढ़ते भी थे। घर से खर्च नहीं जाता था। आत्मनिर्भर थे। ससुरजी सरकारी मुलाजिम थे। डेढ़-दो सौ की आय थी। किसी तरह काम चल रहा था।

पति ने बी० ए० किया और आगे पढ़ने पर कमर कसे ही रहे। उनकी कहानियाँ छपतीं, कविताएँ छपतीं। मैं देखती कि लोग रुचि लेकर पढ़ते हैं। यों लोगों में उनका नाम बहुत हो आया था। घर

आते, तो कॉलेज के छात्रों और अपनी तरह के लोगों से घिरे रहते। कहीं-न-कहीं लोग उन्हें रोज बुलाकर ले जाते। और मैं वह सब देखकर अपने में सुख मानती और भर-उभर आती। गर्व जैसे भारी होकर भीतर बैठा नहीं रह पाता और ऊपर उठता ही जाता।

एक दिन यह सुना कि अखबार में ऐसा-वैसा कुछ लिख डालने के कारण उन्हें कैद की सजा हो गयी है। तब गाँधीजी भी जेल में थे और जवाहर लाल भी जेल में थे। सो पति के जेल जाने की बात को लेकर मुझमें चिन्ता कहीं से भी नहीं उतरी और गर्व ही उभरकर उठता चला आया। उस मामले को लेकर ससुरजी की नौकरी भी जाती रही! इससे ससुरजी कुछ खुश नहीं हुए। अपने को बेकार पाकर झींकने लगे। तीन साल के बाद पेंशन पाने की बात थी, जो अब बीच में ही कटकर रह गयी थी, इससे उन्हें किसी भी भाँति चैन नहीं था। लेकिन कभी-कभी लगता कि गर्व उनके भीतर भी है और उस पर आर्थिक चिन्ता का धुआँ फैला है।

बाद में 'उनको' क्षमा न माँगने के कारण यातना दी जाने लगी। यह खबर सब अखबारों में छपी। भैया ने मुझसे पूछा—"इलाहाबाद चलोगी?"

"क्यों?"

मेरे इस 'क्यों' पर भैया मेरा मुँह ताकते रहे। और तब मुझे लगा कि शायद मुझे यह नहीं पूछना चाहिए था। जिसका पति जेल में सरकारी यन्त्रणा भुगत रहा हो, वही पूछे—क्यों? लेकिन तब मुझमें उस अपने पति के लिए कोई सहानुभूति नहीं थी। वह हैं और लोगों में उनका मान है, इसी का मुझे गर्व था। लेकिन व्यक्तिगत तौर से मैं उन्हें निकट से कहाँ जानती थी? विवाह को मैंने मैत्री का अविछेद्य सम्बन्ध सदा माना है, जिसमें पति और पत्नी एक दूसरे के इतना पास आ जाते हैं कि मालूम नहीं पड़ता कि उनमें कोई दो

है। लेकिन द्वित्व तो मैं अपने ही भीतर सदा पाती रही। इसमें उनका कोई दोष नहीं था; यह मैं अब आकर समझने लगी हूँ, जब इस नदी के अतल में गहरी उतर गयी हूँ और जब किनारा बहुत दूर छूट गया है और उस किनारे का मोह निरन्तर जाग रहा है। लेकिन मैं उस किनारे तक पहुँच सकती हूँ? उसका डोर तो अब स्वयं कटकर रह गया है।

इसलिए जो व्यतीत हो चुका है, उस पर सोचती हूँ, तो अन्तर मथ उठता है। और आज अब चारों ओर से खाली होकर-रिक्त बनकर रह गयी हूँ, तो देखती हूँ कि मैंने अपने को बहुत भटकाया है। और वह भटकना अपने में अर्थ रखकर मेरे लिए कुछ शेष रख गया हो, वह बात एकदम नहीं है। चारों ओर का रास्ता बन्द हो गया है। मैंने अपने से खुद बन्द कर लिया है। इसलिए देखती हूँ कि मेरे लिए मृत्यु ही एक रास्ता है, लेकिन मृत्यु लेकर भी क्या मैं मुक्त हो सकूँगी? नहीं—एकदम नहीं।

पति को मैंने तब दो बार देखा था। लगा कि वह अपने को बहुत लगाते हैं। और उस लगाने की बात लेकर मेरा अस्तित्व स्वीकार करना नहीं चाहते। आज समझ में आता है कि वह सब मेरे ही भीतर का अभिमान था। पहले दिन जब वह भीतर आये, तो मुझे मालूम हुआ कि आज की ही किसी गाड़ी से वह इलाहाबाद लौट रहे हैं। अन्दर आकर वह मुझे बहुत देर तक देखते रहे। ऐसे देखते रहे कि लगा कि उनकी वे पैनी नजरें मेरे बहुत भीतर उतर रही हैं और गड़ रही हैं। मैं शर्म से सुर्ख हो आयी और पानी-पानी हो आयी। चेहरा छिपाने के लिए घूँघट तो नहीं डाल सकी, लेकिन सिर झुका लिया और गाड़ लिया।

फिर वह थके-से एक आराम कुर्सी में लेट गये। जैसे उनका अब कोई काम शेष नहीं रह गया है। मैंने पलकें उठाकर उनकी ओर

देखा। वह मेरी ओर ही देख रहे थे। उन आँखों में न जाने कैसा भाव था! फिर स्थिर भाव से उन्होंने पूछा—"यहाँ रह लोगी?"

मैं क्या जवाब देती? आज समझती हूँ कि उस प्रश्न में उन्होंने क्या पूछा था। वह जानते थे कि मैं कैसे बाप की बेटी हूँ और किस तरह के वातावरण में रहने की आदी हूँ। क्या उस प्रश्न में उनकी अक्षमता और आर्थिक विपन्नता नहीं बोल रही थी? और तब मुझे लगा कि मेरे और अपने इस विवाह को उन्होंने जैसे एक सामाजिक अन्याय माना है। और मन में इसी बात को मानकर चुपचाप सिर झुकाये सोचते रहे। और उनका वह सोचना खतम नहीं हुआ। रात खतम हो गयी।

एक बार फिर आये, तो सिर्फ एक दिन ही यहाँ रहना था। जैसे अचानक ही मुझसे भेंट हो गयी हो और मुझे नहीं पहचानते हों, वैसी ही दृष्टि से मुझे देखा। और शायद वह यह देखते रहे कि मैं इस घर में कैसे रहती हूँ। उन्होंने मेरे विषय में मुझसे कुछ नहीं पूछा। जैसे पूछने से डरते हों। और सब कुछ जानकर सुख नहीं होगा, इसलिए जानना व्यर्थ है।

तब उस शून्यता को काटकर उन्होंने कहा—"रात में १२ बजे की गाड़ी से चला जाऊँगा।"

और उनके उसी प्रकार बैठे-बैठे साढ़े ग्यारह बज गये। उन्होंने घड़ी की ओर देखा और उठकर खड़े हो गये कि अब जाऊँगा—जाना ही है।

उनके उठकर खड़ा होते ही मैं भी उठ आयी। पूछा—"जाना बहुत जरूरी है?"

और उत्तर में वह सिर्फ मुस्कुराये, कि जरूरत है, इसीलिए जाना है। बीच में प्रश्न का कोई अर्थ नहीं है। यह सब उन्होंने

बोल कर नहीं कहा। वह तो चुप रहे, लेकिन उनकी आकृति वह सब कहती रही।

वह चले गये।

मुझे न जाने क्या हो गया कि मैं अपने को सम्हाल न सकी। दोनों हाथों में अपना सिर थामे पलंग पर आ गिरी और अपने ही बालों को उँगलियों में फँसा कर नोंचती रही। लगता था कि कलेजे में खून बढ़ता ही जा रहा है—बढ़ता ही जा रहा है और वह भीतर से फटकर हजार टुकड़े हो जायगा। उस सारी रात न जाने क्यों मैं रोती ही रही।

पिछले डेढ़ साल से वह घर नहीं आये थे। भैया के पास उनकी चिट्ठियाँ आती थीं। वह एम. ए. का इम्तहान देकर आवेंगे और घर पर एक महीना रहेंगे, यह बात घर आने पर मुझे मालूम हुई।

उनके जेल में जाने की बात लेकर मुझे एक साधारण आदमी की स्मृति हो आयी। एक दुबला-पतला व्यक्ति, क्षीण काया, श्याम वर्ण। खादी का पाजामा और कुर्ता। आँखों पर मोटे लेंस का चश्मा। उसे देखकर पता नहीं चलता था कि उसके बाहर जो इतनी लिखी किताबों की ढेर लगी है, जो लेखक है, कवि है, सम्पादक है और जिसका समाज में बहुत उठा हुआ नाम है, वह उसके भीतर कहाँ है? और न वह मेरे भीतर ही है। उससे मेरा इतना ही सम्बन्ध है कि लोग जानते हैं कि वह मेरा पति है। इसलिए भैया ने जब पूछा कि इलाहाबाद चलोगी, तो मेरे मुँह से निकल गया—"क्यों?"

उस दिन मैं भैया की समझ में जरा भी नहीं आयी। भैया ने मुझसे तो कुछ नहीं पूछा। पूछा माँ से—"यह नीरू तुमसे कुछ कहती थी?"

"किस बारे में?" माँ की जिज्ञासा बहुत प्रबल हो उठी।

"अपनी ससुराल वालों के बारे में—कुमार के बारे में ?"

"यह तो कभी कुछ बोलती नहीं। इधर बहुत चुप रहती है। कई रोज उसे रोते देखा है। समझी, वह जेल में हैं, इसलिए रोती है।" माँ ने कहा।

लेकिन भैया को कहीं से भी सन्तोष नहीं हुआ। वह मेरे पास आकर बोले—"मैं आज इलाहाबाद जा रहा हूँ। तुम भी तैयार रहना।"

और जेल में जब मैं उनके सामने अकेली खड़ी हुई, तो शिकचों के पीछे से उन्होंने मुस्कुराकर कहा—"तुम भी आयी ?"

मैं लोहे की उस छड़ को दोनों मुट्ठियों में पकड़े खड़ी रही कि क्या जवाब दूँ ? और इसी तरह बहुत समय निकल गया। एक तरफ खड़े वार्डर ने पूछा—"हो गया ?"

तब मुझे भान हुआ, और शायद उन्हें भी भान हुआ कि हम लोग मुलाकात के लिए आये हैं और मुलाकात का क्षण अपने में बहुत छोटा बनाकर इस जेल में रखा गया है।

एक क्षण के बाद पति ने वार्डर से कहा—"तुम यहाँ से जरा दूर नहीं जा सकते ?"

"नहीं सा'ब !"

और तब उन्होंने धीरे से कहा—"अच्छा !"

यह 'अच्छा' अपने भीतर कहीं से भी अच्छा नहीं था। यह उस वार्डर ने समझ लिया और जरा धीरे से परे हटकर अलग हो गया। तब हम दोनों अकेले हो आये। उस एकान्त में घिर आकर हमें लगा कि हम परम अकेले हैं और उस अकेलेपन में कोई क्या बोले ?

वह क्षण अपने में बहुत फैलकर बढ़ता गया और पहाड़-सा होकर मुझे लगा। उनके भीतर कुछ घुट रहा था। आँखों में देखा,

तो लगा कि वह ऐसे खड़े हैं कि एक क्षण के अन्दर ही उन शिकचों के भीतर मुझे खींच लेंगे। उन्होंने अपने हाथ उठाकर शिकचों पर बँधी मेरी मुट्ठियों को पकड़ लिया। मुझे लगा कि इन मुट्ठियों का दबाव बढ़ रहा है—बढ़ता ही जा रहा है। उस क्षण अन्तर की गहराई में कुछ उठा, जो इसकी अपेक्षा से भरा था कि उस पुरुष की मुट्ठियों में पड़ी मेरी मुट्ठियाँ मसल दी जायँ—एकदम मसल दी जायँ। मैं भी मसल दी जाऊँ कि कहीं कुछ नहीं रहे। इसी स्वीकृति में मैंने अपना सिर उन शिकचों पर टेक दिया और आँखें बन्द कर लीं।

उनकी साँसें बहुत गरम होकर मेरी पलकों पर गिर रही थीं। तब मुझे लगा कि उन गरम साँसों ने ही मुझे पुकारा है—"नीरू!"

मैंने पलकें उठाकर उन्हें देखा और फिर आँखें बन्द कर लीं। उनकी मुट्ठियाँ ढीली हुईं और फिर शिथिल बनकर वे हाथ अपनी बगल में चले गये। तब मुझे लगा कि एकान्त कहीं नहीं है। चारों ओर वायव्य भरा है और वह सामने खड़े हैं। मैंने कहा—"यहाँ बहुत तकलीफ दी जाती है—"

और वह मुझे ऐसी दृष्टि से देखकर हँसे, जैसे कहना चाहते हों कि तक़लीफ तो है; लेकिन है तो क्या? रहे अपना—

मैं बोली—"आप बाहर आ जाइए!"

इस बार उनकी आकृति बहुत सौम्य हो आयी और मुस्कानों को अपने ओठों में बाँधकर वह बहुत खिल आये। कहा—"सरकार नहीं चाहती।"

"सरकार तो चाहती है, आप नहीं चाहते।"

"जिस तरह सरकार चाहती है, वह गलत है।"

"आप माफी—"

और उन्होंने इस तरह मुझे देखा कि मैं आगे कुछ न बोल

सकी। वह एकाएक बहुत विवर्ण हो आये। जैसे उनके भीतर का बना कुछ टूट गया था। आज सोचती हूँ, तो लगता है, उस दिन उन्हें बहुत क्लेश हुआ होगा। पत्नी तो पुरुष को बहुत दृढ़ बनाती है न, और लड़ने के लिए तैयार करती है। मुझमें वह भाव तो नहीं था। और एक बात कहूँ? मैं तब तक शायद पत्नी नहीं थी। नारी ही थी—अपने नारीत्व से अपरिचित। और वह पुरुष बेगाना तो नहीं था, लेकिन जाना हुआ भी नहीं था। इसलिए उस अजाने के सामने मैं कमजोर बनकर ही प्रकट हुई। लेकिन उन्होंने तो मुझे पत्नी मानकर ही लिया था। इसलिए फक पड़े मेरी ओर देखते रहे। फिर मुस्कुराकर कहा—"नीरू—"

मैंने देखा, वैसी मुस्कान भीतर की नहीं होती।

तब सुना, उन्होंने कहा—"जाओ!"

और देखा कि उस लोहे के शिकचों पर, जहाँ मैंने मुट्ठी से पकड़ रखा था, उन्होंने ठक से अपना माथा मार दिया। जैसे किसी का सब कुछ लुट जाय, सब कुछ छूट जाय, वैसे ही वह खड़े रहे। खड़े क्या रहे, अपने को गिरने नहीं दिया और खड़ा रखा।

: २ :

वह छ: महीने के बाद जेल से छूटे और सीधे घर चले आये। लेकिन अपने को घर में बाँधकर रखते, ऐसी बात नहीं हुई। सारा दिन बाहर रहते। खाने का वक्त होता, तो आ जाते। कभी नहीं भी आते। रात में भी खाना खाकर बाहर चले जाते और बहुत रात गये पर लौटते। बाहर वह कहाँ रहते, क्या करते, मैं कुछ भी नहीं जानती। लेकिन उन पर अविश्वास कभी नहीं हुआ। उन पर अविश्वास किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता था।

लेकिन घर की हालत अब ऐसी नहीं थी कि बैठकर खाया जाता। ससुरजी की नौकरी छूट चुकी थी। और कोई दूसरी आमदनी नहीं थी। परिवार है, तो खर्च कैसे बन्द होगा? वह तो चलता ही था। ससुरजी का स्वभाव देवता-जैसा था। सासजी पढ़ी-लिखी नहीं थीं; लेकिन वह सास नहीं थीं—माँ थीं। ऐसी माँ कि उनके कोख से ही पैदा हुई होऊँ।

घर में पढ़ा-लिखा जवान बेटा हो, और परिवार की आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली जाय, यह सोच की बात थी। लेकिन उनसे कोई कुछ नहीं कहता। वह अपने पिताजी के सामने नहीं होते। उनसे बातें भी कम करते। बात नहीं करने का अर्थ यह नहीं कि

दोनों में मन-मुटाव था। बात थी लिहाज की, कि पिता के सामने पुत्र नहीं खड़ा हो पाता था।

एक दिन मैंने उनसे कहा—"बाबूजी (ससुरजी) नौकरी खोज रहे हैं।"

उन्होंने अकचकाकर मेरी ओर देखा—"क्यों ?"

मैं जरा कठिन पड़कर बोली—"क्यों की बात क्या आप नहीं जानते ?"

जवाब में उन्होंने मुझे ऐसी दृष्टि से देखा, जो स्पष्ट-सी बोल रही थी कि नहीं, मैं नहीं जानता।

मैंने कहा—"परिवार का खर्च है और—"

"—तो तुमने मुझसे कहा क्यों नहीं ?"

"क्या कहती ? क्या आप नहीं देख रहे हैं ?"

"नहीं, मैं नहीं देखता हूँ। चाहता हूँ, अन्धा बना रहूँ।" और वह इतना सोच में हो आये कि मैं आगे क्या बोलूँ, यही सोचती चुपचाप खड़ी रही।

और तब, वह बिल्कुल घर के हो रहे। बाहर तभी जाते, जब कोई मिलने वाला आता। नहीं तो हाथ में कलम लिये कुछ लिखते रहते। मैं उनके कमरे में बहुत कम जाती। उनका कमरा तो अलग से कोई नहीं था। वह मेरे ही सोनेवाले कमरे में लिखते रहते। फिर उनके खाने-पीने में भी व्यतिरेक रहने लगा।

यहाँ चौका-बर्तन के लिए अलग से कोई नौकर नहीं था। सब कुछ मुझे ही करना पड़ता था। करना क्या पड़ता था, मैंने अपने ऊपर कामों को डाल लिया था कि खाली न रहूँ। आदमी जब बाहर से खाली रहता है और जब कुछ ऐसा नहीं रहता, जिसमें अपने को उलझाये रखा जा सके, तो भीतर की रिक्तता बहुत कटु हो उठती है। इसलिए अपने को कार्यों में बाँट दिया था।

उस रात सभी लोग खाकर सो गये थे। पति कमरे में बैठे लिख रहे थे। इसलिए चौका उठा नहीं सकी थी। इन्तजार कर रही थी कि वह उठकर आवें तो खाना खा लें। और इसी इन्तजार में जरा दीवार से उठँग गयी कि नींद ने घेर लिया। आँखें खुलीं, तो देखा, माँ जी (सास) आँचल से मेरे चेहरे पर का पसीना पोंछ रही हैं। उन्होंने मुझसे पूछा—"उसने खाया नहीं है ?"

और मेरे बिना जवाब दिये भी वह समझ गयीं कि उन्होंने नहीं खाया है। सीधे वह उनके कमरे में गयीं और कहा—"तुझे भूख नहीं लगती, तो क्या समझता है कि किसी को भूख नहीं लगती ? देख तो, फूल-सी बच्ची बैठी-बैठी मुरझा रही है। दो बजे रात तक खुद भी भूखा रहेगा और उसे भी भूखों मारेगा ? वह पराये की लड़की यहाँ आकर न जाने क्या से क्या होती जा रही है।"

वह अपराधी भाव से सिर झुकाये सब कुछ सुनते रहे। और तब माँ के पीछे-पीछे चलकर चौके में चले आये। चुपचाप बैठकर सिर झुकाये खाने लगे। माँ जब चली गयीं, तो उन्होंने सिर उठाकर मेरी ओर देखा—"क्या तुम्हें भी विश्वास है कि पति देवता होता है ?"

मेरे जी में आया कि कहूँ कि होता है। लेकिन उनकी ओर देखती चुप-की-चुप बैठी रही।

तब उन्होंने कहा—"तुम मेरे लिए यह भाव लेकर चलोगी, तो मेरा निबाह नहीं होगा ? और मैं—मैं वह नहीं हूँ—"

मेरे मन में बहुत-सी बातें घुमर रही थीं, लेकिन ओठों पर कुछ न ला सकी।

सोने के पहले उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर कहा—"बैठो।"

मैंने पूछा—"कुछ कहना है ?" मेरे स्वर में न जाने कैसे यह

बन उठा कि मैं जल्दी में हूँ। और अगर कुछ खास नहीं कहना है, तो व्यर्थ के लिए मुझे फुर्सत नहीं है।

वह एकटक मेरी ओर देखने लगे। फिर धीरे से कहा—"जाओ!"

जैसे कि जो था, अब खतम हो गया है, टूट गया है—जाओ।

मुझे लगा कि वह जेल के शिकचों के भीतर से कह रहे हैं—"जाओ!" उस दिन भी आकृति पर ऐसा ही भाव था। और वह पलंग पर धीरे से लेट गये। मैं कुछ क्षण तक वहीं खड़ी रही। उस आदमी के मन की पीड़ा को लेकर मेरा मन मथ उठा। मैं अपनी पलंग पर आकर लेट गयी। यह आदमी क्या कभी समझ में नहीं आयगा? लेकिन मुझे ही वह क्यों नहीं समझता? इस तरह जिन्दगी नहीं चल सकती—नहीं चल सकती। मन में सोचा कि इस आदमी से न कोई प्रश्न करूँगी और न कोई जवाब ही दूँगी। जो कहेगा, वही करती चली जाऊँगी। लेकिन पीड़ा तो इसकी है कि वह कुछ नहीं कहते। कहने का अवसर भी बहुत कम आने देते।

मैं पड़ी-पड़ी सोचती रही और बत्ती नहीं बुझा सकी। देखा कि वह चुपचाप चित लेटे छत की ओर ताक रहे हैं। वह सोच रहे थे। उनके सोचने में पीड़ा का भाव जरूर था। लेकिन उस तरह अपने में पीड़ा को बाँधे रहने पर नींद तो नहीं आ सकती! न जाने मुझमें क्या जागा कि मैं उठकर उनकी पलंग के पास चली आयी। पूछा—"आपको क्या कहना था?" मैं भाव-सिक्त थी और मेरे अन्तर की पीड़ा फूट पड़ना चाहती थी—"आप अपने को इस तरह बाँधकर क्यों रखते हैं? मैं परायी तो नहीं हूँ।" और मेरी विह्वलता अधिक बढ़ आयी।

वह अकबकाकर उठ बैठे और मेरी ओर हतभाव से देखने लगे। मेरे पावों में बल नहीं रह गया था। मैं उनकी गोद में आ गिरी।

और उस गोद में गिर आकर मैं अपनी रुलाई किसी भी भाँति नहीं रोक सकी—"मैं क्या करूँ?—कहिए क्या करूँ मैं?" और उन्हें अपनी भुजाओं में बाँधे मैं उनकी गोद में सिर रगड़ती रही।

वह मेरी पीठ को सहलाते रहे। कुछ बोल नहीं पा रहे थे। जैसे चारों ओर से भर आया हो, इसलिए शब्द का स्थान मिट गया हो।

जब मेरा सिसकना कम हुआ, तो उन्होंने अपनी दोनों तलहथियों के बीच मेरी आकृति को सम्हालकर धीरे से ऊपर उठाया और मेरी आँखों में देखते रहे। फिर ज्यों-की-त्यों मुझे उसी तरह अपनी गोद में डालकर मेरे सिर को दबाया। मेरे भीतर पुलक इतना भर आया कि लगा मैं वायव्य होकर उड़ जाऊँगी। इसलिए मैंने अपना सिर उनकी गोद में बहुत गाड़ लिया—बहुत गाड़ लिया कि उठूँगी नहीं।

उन्होंने धीरे से कहा—"नीरू!"

और तब मैं नीरू होना नहीं चाहती थी। कुछ भी होना नहीं चाहती थी। चाहती थी कि उसी तरह पड़ी रहूँ और कोई अपनी तलहथियों के बीच मेरी आकृति लेकर मेरी आँखों में देखे।

उन्होंने मुझे ऊपर खींचकर पलंग पर डाल लिया और बगल में बैठकर चुपचाप मुझे देखते रहे। तब एकाएक ही उन्होंने पूछा—"नीरू, तुम्हारे मन में क्या कभी ऐसा भाव नहीं उठा, सच-सच कहना, कि तुम्हारे माता-पिता ने क्या इसी घर में डाल देने के लिए इतने जतन से पाल रखा था?"

हे भगवान! क्या मेरी ऐसी भी परीक्षा ली जायगी? और इस आदमी के सामने मैं क्या बोलूँ? इस घर में कहीं सुख तो नहीं था। कॉलेज के दिनों के सपने ऐसे टूट गये थे कि उन टूटकर बिखरे हुए सपनों की ओर देखने में भी भय मालूम होता था। और अपने सभी अरमानों की डोर काटकर मैं इस गृहस्थी के समुन्दर में अपने को डाल

चुकी थी, जिसका कोई किनारा नहीं था और न नीचे तल ही था। मैं तकिया में सिर गाड़कर फफक उठी।....

तीन-चार दिनों के बाद मैंने उनसे कहा—"क्या समझते हैं कि बाबूजी की उमर अब काम करने के लायक है ?"

उन्होंने बात जैसे नहीं समझी हो, उसी ढंग से कहा—"नहीं तो—"

"लेकिन वह शहर जा रहे हैं। किसी प्राइवेट फर्म में क्लर्क का काम करेंगे।"

एक क्षण वह विचार में पड़ गये। फिर कहा—"तुम माँ से कहना—पिताजी को रोक लें।"

"रोक तो लें, लेकिन—"

"लेकिन—लेकिन मैं तो मिहनत करता ही हूँ।"

"क्या मिहनत करते हैं ?—वह, जो आप लिख रहे हैं ?"

"हाँ !"

"लेकिन इस लिखने की कीमत—"

"कीमत तो जरूर है। इतना लिखा है कि दो हजार आसानी से आ सकते हैं।"

न जाने क्यों उनकी बात पर मुझे हँसी आ गयी। यह लेखक नाम का जीव कितना बेचारा होता है ! मेरे हँसने का कोई इतर भाव नहीं था। लेकिन वह मेरी ओर देखकर गंभीर हो आये। मैंने कहा—"आप कोई काम क्यों नहीं कर लेते ?"

"काम—?" जैसे उन्होंने बहुत दूर—अन्तरिक्ष के पास से मुझे देखा।

मैं उनकी ऐसी अतीन्द्रिय दृष्टि से बहुत डरती थी। आगे कुछ न बोली। वह ही बोले—"और यह जो मैं लिखता हूँ, यह काम नहीं है?"

अब इसका जवाब मैं क्या देती?

लेकिन उसके बाद वह दो दिनों तक अन्तर्मुख बने रहे। तीसरे दिन देखा कि वह कहीं की यात्रा की तैयारी कर रहे हैं। सब कुछ उन्होंने अपने से ठीक किया। मुझसे कुछ नहीं कहा। मैं चुपचाप देखती-भर रही। कुछ पूछा नहीं।

खाना खाकर उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलाया। कहा—"तुम मुझे पच्चास रुपये दो!"

मैं हत भाव से उनकी ओर देखती रही।

उन्होंने पूछा—"क्या कहती हो?"

मेरे पास कहने को क्या था? क्षण-भर रुककर मैंने पूछा—"क्या करेंगे रुपये लेकर?"

उन्होंने एकबार मुझे सिर से पाँव तक देखा और कहा—"क्या तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना पड़ेगा?—तभी रुपये दोगी?"

हाय राम! उन्होंने बात को कैसा मानकर लिया! अब इस परिस्थिति से उबरा तो पार नहीं लगेगा! कि उनका स्वर सुनाई पड़ा—"ऊँ—?"

मैंने उनकी ओर आँखें उठाईं—"कहीं जा रहे हैं?"

"सोचता हूँ, शायद जाना पड़ेगा।"

"कहाँ?"

"अब क्या कहूँ कि कहाँ? कहीं तो जाना ही है।" और उन्हें लगा कि मैं उनके कथन पर कहीं से सन्देह कर रही हूँ, इसीलिए आगे जोड़कर कहा—"नीरू, मैं सच कह रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि कहाँ जाना है।"

फिर वातावरण पर छाकर वहाँ का सन्नाटा और गहरा हो आया। मैं खड़ी न रह सकी। पलंग के एक किनारे बैठ गयी।

तब उन्होंने आतुर दृष्टि से घड़ी की ओर देखा—"दोगी!"

मेरा स्वर जम आया—"रुपये नहीं हैं।"

रुपये सच नहीं थे। रुपये मेरे पास थे बहुत। लेकिन पैसा-पैसा कर चुक गया था। माँ जी घर की चाभी मुझे सौंपकर निश्चित हो गयी थीं। एक बार उन्होंने तीन सौ रुपये मुझे दिये और फिर घर खर्च के लिए दस-पाँच कर लेती रहीं। और दो साल में मेरे पास के अपने रुपये भी न जाने कितने तीन सौ निकल गये। अपने रुपये इसलिए कहती हूँ कि उन्हें मैया ने दिये थे, माँ ने दिये थे और पिता जी ने दिये थे। उन रुपयों के खर्च करते समय मन में मोह जागता था। लेकिन माँ जी के सामने मेरा कोई वश नहीं चलता।

मेरा जवाब सुनकर पति क्षण-भर खिड़की के बाहर सूने आकाश को देखते रहे। फिर झटके के साथ उठे। एक हाथ में अटैची ली और दूसरे में होल्डेल उठाया। मैं सामने आकर बोली—"सच कहती हूँ, रुपये नहीं हैं।"

उन्होंने मेरी आकृति पर ठहरकर देखा और बाँधकर रखी साँस धीरे से छोड़ दी—"अच्छा!" और आगे बढ़ गये।

मुझे लगा कि इस आदमी को विश्वास नहीं हुआ कि मैं सच कह रही हूँ। इसलिए मुझमें कठिनता भर आयी। स्वर तीव्र और रुक्ष हो उठा—"मैं कह रही हूँ, मेरे पास रुपये नहीं हैं।"

मेरे स्वर से वह चौंके। घूमकर मुझे देखा और तब लौट आकर मेरे निकट खड़े हो गये और स्थिर भाव से कहा—"रुपये नहीं हैं, तो मुझे क्या करने को कहती हो, बोलो!"

और तब न जाने क्यों मेरे भीतर गुस्सा भर आया। गुस्से की तो कोई बात नहीं थी। लेकिन न जाने वह किधर से आकर मन को.

कड़वा बना गया। मैंने चाभियों का गुच्छा झट से उनके पास फेंक दिया। कहा—"देख लीजिए! ढूँढ़ लीजिए, कि मेरे पास रुपये हैं कि नहीं।"

वह हत भाव से उसी तरह खड़े मुझे देखते रहे। तब होल्डेल और अटैची को वहीं पर डाल दिया। चाभियों का गुच्छा उठाकर मेरे पास आये। देते हुए बोले—"रखो, इसका अधिकार मुझे नहीं है।"

मैं जिद पर थी और वह जिद बँधती ही जा रही थी—"नहीं, आप देख लीजिए!"

तब वह बहुत विवश हो आए और सिर झुका लिया।

मैंने झपटकर उनके हाथ से चाभी ले ली और अपने ट्रंक से कंगन का जोड़ा निकालकर कहा—"इन्हें ले जाइए। पाँच सौ रुपये मिल जायँगे।"

वह और अधिक कातर हो आये और न जाने किस भाव से मुझे देखा। तब पलंग की पाटी से टिककर बैठते हुए बोले—"नीरू, मैंने कुछ दिया नहीं है। इसलिए लेने का हक कहाँ है?"

मेरा स्वर उत्कट ही था—"मेरे साथ हक खोजते हैं?"

वह चुप रह गये।

फिर उठे कि चलना है—चल देना ही है।

मैंने पूछा—"तब, आप कँगन नहीं लेंगे?"

जैसे वह अपने भीतर बहुत उलझ आये हों, उसी दृष्टि से देखा। लेकिन न जाने मुझ पर क्या सवार था कि बोली—"रुपये ही लीजिएगा?"

सहज स्वर में उन्होंने कहा—"नहीं, कुछ नहीं लूँगा।"

"—तो खाली हाथ जायँगे?"

वह चुप रहे।

"रुपये मैं मँगवा देती हूँ।"

"अभी तो तुमने कहा, रुपये नहीं हैं !"

"रुपये से जब कंगन बन सकता है, तो कंगन से क्या रुपये नहीं बनेंगे ?"

"नीरू !" जैसे उन्होंने मुझे डाँटा हो, लेकिन डाँट नहीं सके और सामान उठाकर चुपचाप चले गये ।

तब मैं अपने ही ऊपर बहुत क्रुद्ध हो उठी—मैं कोई नहीं हूँ ? कुछ नहीं हूँ ? जी में आया कि मैं अपना तन-बदन सब धुन डालूँ । सीधे पलंग पर आकर पड़ गयी ।

सभी मुझसे पूछते कि वह कहाँ गये हैं ? उमा का भी विश्वास था कि भैया भाभी से सब कुछ कहकर गये हैं, और भाभी कुछ बतला नहीं रही हैं । इससे मुझे बहुत क्रोध हो आया कि उस जानेवाले आदमी को तो सोचना चाहिए था कि कोई पूछेगा, तो मैं क्या जवाब दूँगी....

चार महीने बाद भैया आये । पूछा—"तुम्हारे पास कुमार की कोई चिट्ठी नहीं आयी है ?"

मैंने विषण्ण भाव से कहा—"नहीं ।"

"क्यों ?" और यह पूछकर भैया गहरी नजर से मेरी ओर देखने लगे । उनकी उन नजरों में मैं नहीं देख सकी । लेकिन उस 'क्यों' का जवाब वह मुझसे क्या चाह रहे थे, उस तक मैं नहीं पहुँच सकी । इसलिए चुप रही । और उस 'क्यों' का जवाब भला मैं क्या देती ?

भैया ने उन्हीं नजरों से देखते हुए पूछा—"कुमार को तुमने कुछ कहा था ?"

अब इसका जवाब मैं क्या दूँ ? जिस कुमार की बात वह कह रहे थे, इस घर में तो मैं उनकी पत्नी बनकर थी। लेकिन पत्नी बनकर भी उनसे क्या कुछ कहा जा सकता था ?

भैया ने पूछा—"लड़कर गया है ?"

"नहीं। वह किसी से लड़ते नहीं।"

भैया तब अनबूझ भाव से अपने भीतर हारकर रह गये। तब बोले—"बोलो, तब क्या बात है ?"

"मैं कुछ नहीं जानती।"

"नीरू ! ठीक बोल, क्या सच नहीं जानती ?"

भला मैं क्या जानती थी ? कुछ बतलाकर भी तो नहीं गये। लेकिन मुझे लगा कि गहराई में मैं ही शायद कहीं दोषी हूँ।

उस रात मैं सोचती रही कि क्या उनका जाना बहुत ही अनिवार्य था ? और उससे ज्यादा अनिवार्य होकर लगा कि उन्हें यहाँ होना चाहिए। उस दिन उनका अभाव मेरे मन को पीड़ने लगा। व्यथा से भर आयी और रोती रही।

भैया उनके लिए बहुत चिन्तित थे। एक बात आपको बतला दूँ। भैया उनकी प्रतिभा के बहुत कायल थे। दोनों दोस्त थे और एक दूसरे के लिए जान देने को तैयार था। भैया के जोर से ही मेरा विवाह यहाँ हुआ। नहीं तो,...अब जाने दीजिए, पिछली बातों को क्या दुहराऊँ ! अब तो मैं कुमार की पत्नी हूँ।—तो भैया ने ही आकर एक दिन बतलाया कि कुमार रूस चला गया है। रूस ?....रूस तो बहुत दूर है। फिर भी मैं भीतर से जरा निश्चिन्त हो आयी।

: ३ :

बीच की कहानी को क्यों लम्बी करूँ ? डेढ़ साल के बाद पति लौट आये। मालूम हुआ कि रूस में भारतीय दूतावास में थे। उनके सामने जाने में मैं अपने भीतर बहुत छोटी लगने लगी। दिन-भर उनके सामने नहीं हुई। जान-बूझकर बचती रही। साँझ में जब आइने के सामने खड़ी हुई, तो लगा कि काल का बहुत बड़ा अरसा मेरे ऊपर से होकर गुजर गया है और अपना असर छोड़ता गया है। इस बीच मैं अपनी ओर से बहुत लापरवाह हो आयी थी। अब आइने के सामने खड़ी होकर अपना हलका मेकअप किया। चोटियों के नीचे गाँठ डाल रही थी कि कानों में आवाज पड़ी—"माँ !"

और पति अन्दर चले आये। मुस्कुराकर मेरी ओर देखा और मेरे बहुत निकट आकर खड़े हो गये। मुझसे सिर उठाया नहीं गया। तब उन्होंने मुझे अपने पास खींच लिया और ठुड्डी में उँगली लगाकर मेरा मुँह ऊपर किया और उसी प्रकार खड़े-खड़े मुझे देखते रहे—देखते ही रहे। और उनके बाएँ हाथ में जो मेरी बाँह पड़ी थी। उसकी गिरफ्त कसती गयी। तब क्या हुआ, कि जहाँ पर उन्होंने मेरी बाँह को पकड़ रखा था, वहाँ के रोएँ भीतर-ही-भीतर सिहर उठे और वह सिहरन सारे शरीर में व्याप गयी। न जाने मुझ में क्या हुआ कि मैंने अपना सिर उनकी छाती में गाड़ दिया। तब उन्होंने एकाएक मेरी बाँह छोड़ दी और अलग हो गये।

जैसे सरे बाजार में मेरी निर्लज्जता उघर आयी, मेरे भीतर का सारा नंगापन उत्संग हो आया। मैं अपने को सम्हालती, सिर पर आँचल रखती उस कमरे से जैसे-तैसे भाग आयी। लेकिन उस एकान्त कमरे में, जहाँ सिर्फ मैं थी और वह थे, क्या अकेली मैं ही नंगी हो आयी थी? और वह? उन्होंने जो कुछ किया? लेकिन मैं तो उन्हें कुछ भी नहीं समझ सकी थी।

रात में मैं उनके पास नहीं आयी। माँ जी के कमरे में ही लेटी। माँ जी ने मेरी ओर संशय की दृष्टि से देखते हुए पूछा—"क्या बात है बहू?"

मैं चुपचाप लेटी रही।

माँ जी को नींद नहीं आयी। घंटे-भर बाद वह उठीं। उनके कमरे में गयीं। शायद पति तब भी जाग रहे थे। माँ जी की आवाज बाहर सुनाई पड़ी—"क्या बात है बाबू?"

"कुछ तो नहीं माँ!"

"कुछ कैसे नहीं है?"

और फिर दोनों माँ-बेटों में न जाने क्या बात हुई, या बात ही नहीं हुई। लेकिन वहाँ से माँ जी लौटीं, तो कुछ बोलीं नहीं, चुपचाप लेट गयीं। उनका उस तरह लेट जाना मुझे पीड़ा देने लगा। तब क्या इस घर में एक मैं ही अपराधिनी हूँ? लेकिन माँ जी के भीतर—बहुत भीतर पीड़ा थी, जो स्पष्ट दीख रही थी। जी में आया कि मैं माँ जी की गोद में सिर डालकर रो पड़ूँ। लेकिन उसी तरह पड़ी रही।....

उनके आने पर उमा के विवाह की चर्चा चलने लगी। बाबूजी ने फर्म की नौकरी छोड़ दी थी। उमा के लिए वर भी ढूँढ लिया

गया था। चार हजार रुपये का प्रश्न था, इसी का सोच था। और रुपये के अभाव में शादी रुकी थी।

मैं उनसे एक दिन बोली—"उमा इस साल भी क्वाँरी ही रहेगी?"

"नहीं, नहीं रहना चाहिए।"

"—तो रुपये का प्रबन्ध आप क्यों नहीं कर देते?"

"बाबूजी—"

और एकाएक मुझे क्रोध हो आया—"आपकी अक्ल मारी गयी है? सब कुछ वही करेंगे? और आप....वह कहाँ से करेंगे?"

वह बहुत अस्पष्ट हो उठे—"सच तो—सच तो नीरू! मुझे करना चाहिए।....मैं क्या हूँ?" और वह उठकर बाहर चले गये।

रात में वह ज्यादा गम्भीर थे। चिन्तित ही थे। मैं उनके सिरहाने जाकर खड़ी हो गयी। उन्होंने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। जैसे आँखों में ही पूछा कि क्या है? मैंने पूछा—"जी अच्छा नहीं है क्या?"

"क्यों? अच्छा तो हूँ।" और वह प्रयास कर मुस्कुराये।

मैं उनके पास बैठ गयी। उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और न उठकर बैठे ही। क्षण-भर बाद मैं बोली—"सिर दबा दूँ?"

"नहीं, वैसी कोई बात नहीं है।"

"तो फिर क्या बात है?" मैं सहज नहीं रह सकी। उत्कट हो आयी।

वह क्षण-भर मेरी ओर ताकते रहे और तब छत की ओर देखने लगे।

तब मुझे लगा कि अभी उलझने की तो कोई बात नहीं थी। और यह सोचते-सोचते ही मैं उनके ऊपर झुक आयी। जैसे अपने को क्षमा कर दिया हो, वैसे ही स्वर में बोली—"क्या सोचते हैं?"

जैसे उन्होंने बात नहीं सुनी हो, वैसे ही मुझे देखा—"आँ—?"

और मेरा मुँह अपने बहुत पास देखकर वह देखते ही रह गये। उनकी पलकें नहीं झुकीं। उन खुली आँखों के भीतर से लहर उठाती नजरों में मैंने देखा कि वहाँ रूप की भूख है—नारी की भूख है—मैं संकोच से भर आयी। मेरा सिर स्वतः एक ओर झुक गया। वह मेरी चोटियों को अपने हाथ में लेकर मलते रहे—मसलते रहे। उस घड़ी एक क्षण के लिए मेरे मन में उठा कि इस पुरुष के हाथ में पड़कर मैं भी इसी तरह क्यों नहीं मसल दी जाती? लेकिन वह भाव टिका नहीं, मिट गया।

उन्होंने मेरी चोटियों को खींचा और खींचते ही गये। उस खिचाव के साथ मेरा सिर भी उनकी ओर झुकता गया। उन्होंने चोटियों के सहारे ही मेरे सिर को खींचकर अपनी छाती पर डाल लिया। वह छाती बहुत तेज धड़क रही थी। मेरी आँखें बन्द थीं और मैं उन धड़कनों को स्पष्ट अनुभव कर रही थी। मेरे बालों में उँगलियाँ डालकर उन्होंने पूछा। पूछा नहीं, कहा। और सच पूछिए, तो कहने का कोई भाव नहीं था। भीतर की रुकी साँस स्वर बनकर निकल आयी थी—"नीरू!"

लेकिन मैं कुछ बोली नहीं। उसी प्रकार आँखें बन्द किये सिर डाले पड़ी रही। ऐसा लग रहा था कि एक पल के बाद ही कुछ अघट होनेवाला है। लेकिन अपने भीतर मुझमें कहीं कोई विरोध नहीं था और उस हो पड़ने वाले क्षण का अनुरोध भी नहीं था। आवे! जो आना हो, आ जाय, सब अपने ऊपर ले लूँगी। कि उन्होंने कहा—"समझ में नहीं आता नीरू, कि रुपये कहाँ से आयँगे?"

अघट कुछ नहीं हुआ। सब जैसा-का-तैसा ही रहा। लेकिन मैं अपने भीतर व्यस्त हो उठी। चाहा कि झटके से उस छाती पर से

अपना सिर खींच लूँ। लेकिन उन्होंने मेरे बालों को कसकर अपनी मुट्ठियों में पकड़ लिया। उसी तरह लेटी मैंने आँखें खोलकर उनकी ओर देखा, वह सागर की तरह गंभीर हैं, जिसके ऊपर बहुत भीषण लहरें उठती हैं और फिर गिर जाती हैं।

उन्होंने कहा—"रुपयों का मैंने अब तक कोई मूल्य नहीं समझा है। उसकी संख्या हजार में हो, लाख में हो, मैं उसे गिनता नहीं। इसलिए कि उसके मोल का, परिमाण का मुझमें कोई आग्रह नहीं रहा है। जरूरत भर लेता रहा हूँ और पाता भी रहा हूँ। नहीं पाने पर दुःख नहीं हुआ है। लेकिन देखता हूँ, दो-चार हजार उमा के लिए सवाल बने हैं। उस सवाल में यह पूरा परिवार उलझा है। लेकिन उस सवाल में से होकर अकेले मुझे ही गुजरना है। इसलिए परीशान हूँ। लगता है, सिर फट पड़ेगा।"

मैंने पूछा—"आपके पास रुपये नहीं हैं?"

न जाने कैसी नजर से उन्होंने मुझे देखा और मेरी आँखों में आँखें डालकर ही कहा—"तो तुम यह समझती हो कि मेरे पास रुपये हैं?"

मैं कुछ नहीं बोली। वह ही बोले—"हैं भी, तो कहाँ हैं? तुमको तो मैंने दिये नहीं। और अपने पास कहाँ रखूँगा? मेरा तो सब कुछ तुम्हारे पास है।"

"मेरे पास क्या है? कुछ भी तो नहीं—"

"—तो मेरे पास भी नहीं है। इसका माने है कि मेरे भीतर कुछ नहीं है। मैं कुछ नहीं हूँ।" और एकाएक वह भीतर से उदास हो आये।

मैंने टोका—"साल-भर तक रूस में रहे—"

"वहाँ से मिला था। लेकिन—समझो नहीं मिला था।"

मैं विरक्त होकर बोली—"नहीं कहना चाहते हैं?"

"एक आदमी को जरूरत थी, दे दिया।"

मैं और अधिक उस छाती पर अपना सिर नहीं रख सकी। उठ आकर पूछा--"कितने रुपये थे ?"

"सो मैं नहीं जानता। मेरे पास जो था, सब दे दिया।"

"कितना दिया ?"

"उसे पाँच हजार की जरूरत थी। लेकिन मैंने जो दिया, वह पूरा नहीं था।"

मैं चुप हो आयी। लेकिन अन्तर मथता रहा। सोच रही थी कि अब आगे कुछ नहीं पूछूँगी। लेकिन न जाने कैसे ओठों को खोलकर बात निकल आयी—"किसे दे दिया ?" मेरा स्वर ऐसा था, जैसे जवाब तलब कर रही होऊँ।

"मुझ पर शक करती हो ?"

"नहीं, जानने के लिए पूछ रही हूँ।"

"राजन को दिया।"

"राजन को ?"

"हाँ, वह विदेश में था और उसे रुपयों की जरूरत थी।"

मैं समझ नहीं सकी कि क्या बोलूँ ? लेकिन बोल रही थी—"राजन को क्यों दिया ? वह आपका कौन है ?"

वह सिर झुकाये चुपचाप सुन रहे थे। जवाब नहीं दिया। मैंने उसी आवेश में कहा—"आपने जरा भी नहीं सोचा कि घर में कुमारी बहिन है ?"

वह मेरी बातों को अपने ऊपर ओढ़ते गये।

मुझे जरा भी बोध नहीं था कि मैं क्रोध में हूँ। बोध ही होता, तो क्रोध क्यों करती ? क्रोध करने की बात तो कुछ नहीं थी।....जरा रुकिए। शायद बात थी। मुझे लगा कि राजन को रुपये देकर मुझे जान-बूझकर नीचा दिखाया जा रहा है। लेकिन राजन ने इनसे

रुपये क्यों माँगे ? अपने भीतर झाँककर आज देखती हूँ, तो लगता है कि उस दिन का क्रोध उन पर नहीं था, राजन पर ही था। और पति की वह उदारता मुझ पर अत्याचार होकर लगी। क्या उस दिन तक मेरे भीतर राजन का महत्व नहीं था ? जरूर था। इसलिए राजन पर उबली आ रही थी। और उसी उबाल में मैं उठ आयी। अपने ट्रंक से सब जेवर निकालकर उनके आगे रख दिया। बोली– इसे बेच दीजिए और जितना राजन को दिया है,, पूरा कर लीजिए!"

वह अनबूझ-जैसे मेरी ओर देखते रहे।

मैं ही बोली—"रुपये आ जायँगे, तो आपका सिर नहीं फटेगा।"

वह बहुत करुण हो आये और आर्द्र दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे।

मैंने कहा। कहा नहीं, जैसे आदेश दिया—"इन्हें ले जाइए!"

"नीरू—"

"नीरू नहीं। बोलिए, इसे ले जाते हैं ?"

वह चुप ही रहे।

"ले जाते हैं कि फेंक दूँ ?"

उन्होंने हाथ बढ़ाकर कहा—"लाओ, दे दो!" और उठकर उन्होंने सब कुछ अपनी गोद में रख लिया। क्षण-भर बाद बोले— "तुम्हारा चित्त ठिकाने नहीं है।"

मैं झपटकर बोली—"चित्त चिता पर ठिकाने में आयगा।" और उस कमरे से बाहर चली आयी।

आज सोचती हूँ, उतना क्रोध मुझ में कैसे भर आया ? उन्होंने इतना बड़ा अधिकार तो नहीं दे रखा था कि मैं उन्हें उस प्रकार नोच-चोथ डालूँ!

उसके दूसरे दिन ही वह कहीं चले गये। मैं अपने भीतर बहुत डर आयी। क्या वह फिर कहीं चले गये ? कहाँ गये होंगे ? लेकिन

मैंने माँ जी से भी नहीं पूछा। क्या पूछती ? कौन-सा मुँह लेकर पूछती ? भर दिन चित्त उदास रहा। साँझ में जैसे-तैसे भोजन बनाकर आ लेटी। खाने के लिए बैठी, तो खाया नहीं गया। लगा कि भीतर से कण्ठ तक जाने क्या भरा है और अन्न का एक ग्रास भी भीतर जाने की जगह नहीं है। जरा-सी रोटी मुँह में डालकर चबलाती रही और फिर जब घोंटा नहीं गया, तो थूककर भाग आयी। औंधे लेटकर तकिया में सिर गाड़ लिया।

कुछ देर के बाद माँ जी अन्दर पहुँचीं—"यह जेवर रख ले बहू !"

मैं चुपचाप उन जेवरों की ओर देखती रही। माँ जी ने मेरे निकट आकर पीठ पर हाथ रखा और बोलीं—"जेवर तुमने कुमार को क्यों दिया था ? बेचने के लिए ? एक बेटी का शृङ्गार उतारकर दूसरे का सुहाग सजाया जायगा ? क्या उमा ही मेरी बेटी है ? तू नहीं ?"

मेरे आँसू जो थमे थे, अब नहीं थमे। माँ जी की गोद में अपना सिर डालकर मैंने पूछा—"वह कहाँ गये माँ ?"

माँ बहुत अचरज में आ पड़ीं—"तो तुझे मालूम नहीं है ?"

मैंने उनकी गोद में सिर रगड़ते हुए कहा—"नहीं—नहीं।"

तब वह संशय में भरी चुप हो रहीं।....

बीच के तीन दिन किस प्रकार बीते, इसे अब मैं क्या बतलाऊँ ? कुछ स्पष्ट याद भी नहीं है। लेकिन वे बीत गये। चौथे दिन रात में पति आये। घर के किसी ने उनसे कुछ नहीं कहा। सीधे मेरे कमरे में आये। उनके आने का आभास मिल गया था। फिर भी मैं चुपचाप लेटी रही। भीतर आकर वह मेरी ओर देखते रहे। फिर कपड़े

उतारा और क्षण-भर शायद यह सोचते रहे कि अब क्या किया जाय ? फिर उन्होंने कम्बल उठाया और एक तकिया लेकर ऊपर छत पर चले गये ।

मैं पड़ी-पड़ी सोचती रही कि यह आदमी अपने में कितना सिमट-कर बन्धा है ! मुझे उठाकर उन्होंने कुछ कहा क्यों नहीं ? न जाने खाया है या नहीं । और बेलौस कम्बल उठाकर ऊपर चले गये हैं । यहाँ ही सो जाते, तो क्या था ? हवा तो यहाँ भी आ रही है । और क्या मैं उनके लिए छत पर ही कम्बल नहीं डाल आ सकती थी ? इस तरह किनारा काटकर क्यों रहते हैं ?

मैंने भीतर-ही-भीतर ठान लिया कि कुछ नहीं पूछूँगी । खुद बतलावेंगे, तो जान लूँगी । नहीं तो उसके विषय में कोई आग्रह नहीं करूँगी ।

लेकिन मैं ज्यादा देर वहाँ लेटी नहीं रह सकी । ऊपर चाँदनी दक खिल रही थी और वह चित लेटे न जाने क्या सोच रहे थे । मेरे पैरों की आहट पाकर पूछा—"कौन है ?—माँ ?"

"नहीं, मैं हूँ ।"

मेरी आवाज सुनकर वह उठ बैठे । मैं उनके कम्बल के एक किनारे आकर बैठ गयी । इस भाव से बैठी कि मैं अपराधिनी हूँ । जाने-अनजाने बहुत अपराध कर बैठती हूँ । तुम सारा विष शंकर की तरह पी जाओ !

मैं सोच रही थी कि वह कुछ बोलेंगे । लेकिन वह जंगली फूलों की एक बेल की ओर देख रहे थे, जो फूलों से लदी थी और छत के एक किनारे लतरी थी । हवा में फूलों की महक भरी थी और चाँदनी में वहाँ का वातावरण अलमस्त मालूम दे रहा था । कोई कब घड़ी उस प्रकार गुमसुम बैठा रह सकता था ? मैंने पूछा—"खाना तो नहीं खाया होगा ?"

"ऊँ ? खाना ?—खाना तो खा लिया था।"

"अभी कुछ खाइएगा नहीं ?"

"छोड़ो !"

और फिर वह और मैं दोनों ही चुप हो आये।

कुछ देर बाद उन्होंने पूछा—"नीरू, जानती हो, कय बजता है ?"

मैंने अलस भाव से कहा—"एक बजता होगा ?"

"तुम्हें नींद नहीं आती ?"

"न जाने क्यों—"

तब वह एकाएक मेरी उँगली पकड़कर बोले—"चलो, नीचे चलो !" और मैं अपनी उँगली उनकी पकड़ में दिये चलती नीचे चली आयी। कमरे में आकर उन्होंने अपना ब्रीफ केस खोला और नोटों के तीन बंडल निकाले। मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—"इसे रख लो !"

"मैं क्यों रखूँ ?"

"उमा के लिए हैं—चार हजार। शादी में खर्च करना।"

मेरे भीतर न जाने कैसी तितिक्षा जगी—"कहाँ से रुपये लाये हैं ? राजन आया है ?"

"नहीं।"

"भेज दिया है ?"

"नहीं।"

अब मैं अधीर हो उठी—"फिर कहाँ से रुपये आये ?"

वह अधिक विषण्ण होकर बोले—"जाने बिना नहीं रखोगी ?"

"मैं होती कौन हूँ, जो रुपये रखूँ ?" मेरी आवाज कुछ तेज हो आयी।

उन्होंने अनुनय के स्वर में कहा—"जरा धीरे बोलो ! लड़ाई तो नहीं करनी है ।"

"—तो मैं लड़ती हूँ ?" मेरे स्वर में क्रोध था ।

"रुपये रख लो, फिर बातें होंगी ।"

"अपने रुपये रख लीजिए, नहीं तो मैं फेंक दूँगी ।"

इस पर वह एकाएक बहुत निरीह और करुण हो आये । रुपयों को ब्रीफ केस में डाल दिया और ब्रीफ केस तथा मुझे वहीं छोड़कर जाने लगे । तो मैंने पूछा—"और यह राजन कब रुपये देगा ?"

जाते-जाते उन्होंने कहा—"आओ, ऊपर ही बातें करेंगे ।"

लेकिन मैं ऊपर नहीं गयी । वहाँ उसी पलंग पर लेट गयी । उस रात पति के विषय में कम और राजन के विषय में अधिक सोचा । और सोचकर मैंने माना कि राजन के विषय में कुछ भी सोचना व्यर्थ है । लेकिन मेरा सोचना और मन में ठानना सब बेकार रहा ।

अब उन पुरानी बातों को सोचती हूँ, तो सब कुछ स्पष्ट मालूम होता है । तब न जाने यह दृष्टि मेरी कहाँ चली गयी थी । अब, जब कि सब कुछ बिगड़ गया है और सुधार की कोई गुंजायश नहीं रह गयी है, तब अपने को आर-पार देखती हूँ । लगता है कि अपने पति के लिए मथकर मैंने केवल विष ही निकाला और वह सब पीते गये । मेरे लिए सिर्फ अमृत छोड़ा । और उस अमृत को भी मैंने अपने हाथों ही जहर बना लिया । इसे भी पी जाती, तो जी को चैन मिलता । लेकिन मुझसे कुछ भी सम्भव नहीं है, यों ही जिन्दा रहूँगी, और अपने विष की जलन से जलती रहूँगी ।

: ४ :

उमा की शादी की तैयारी होने लगी। कपड़े और जेवर आये। पति और भैया सामान खरीदने गये थे। लौटे यह अकेले। कई लोगों को सामान दिखलाये गये। लोगों ने पसन्द की तारीफ की।

एक अंगूरी रंग की बनारसी साड़ी और एक हार एक ओर करते हुए उन्होंने माँ जी से कहा—"यह नीरू के लिए है।" और उन्होंने छिपती नजरों से मेरी ओर देखा।

माँ जी ने सिर उठाकर मुझे देखा और मुस्कुरा पड़ीं। बोलीं—"मुझे तो अच्छा लगता है, लेकिन बहू को पसन्द आये, तब न? आज तक तो इसे इस घर में चार अंगुल कपड़ा भी नहीं मिला। माँ-बाप का दिया ही पहनती-ओढ़ती रही है।"

न जाने क्यों मुझे यह सब बेतुका लगा। बोली—"मेरे पास तो अभी काफी कपड़े हैं माँ! मैं लेकर क्या करूँगी? कीमती साड़ियाँ रखी-रखी सड़ेंगी ही तो!"

माँ जी ने कहा—"कभी तो इसने कुछ दिया नहीं होगा अब तक तुम्हें! देता, तो मुझे जरूर खबर होती। यह कहता या तुम ही कहती। आज इसके हाथ में पैसा आया है, तो साध लेकर खरीदा है। सुहाग का पहला जोड़ा समझकर इसे तो रख लेना ही होगा बहू!"

मैं बातों को टालती हुई बोली—"मेरे पास तो है—बहुत है। उमा के लिए ही ठीक रहेगा।" और मैं वहाँ से टलकर भीतर चली

आयी। वहीं से देखा कि 'वह' साड़ी और उस हार को अपनी गोद में डाले चुपचाप बैठे हैं। उसी प्रकार बैठे जब कुछ क्षण गुजर गये, तो माँ जी ने टोका—"अरे! समेटकर सब रख दे न!"

और तब वह समेटने लगे। उस क्रिया में समेटने का भाव ही उग्र बना रहा। सहेजा कुछ नहीं गया। सब कुछ एक साथ ही जैसे-तैसे समेटकर क्षण-भर में ही ट्रंक में डाल दिया गया। और फिर वह बाहर चले गये।

माँ जी जब कमरे में आयीं, तो हँसकर बोलीं–"तू मान करती है?"

"कैसा मान?"

माँ जी ने मेरी बातों का जवाब नहीं दिया। उसी प्रकार हँसती और कहती हुई चली गयीं—"कर ले मान—मान तो करना है ही।"

और जब माँ जी चली गयीं, तो मैं सोचने लगी कि क्या सचमुच मेरे भीतर का मान ही वह सब बोल रहा था? लेकिन मान किससे? किसपर? तब मैं एकाएक पीड़ा से भर आयी।

उस रात मैंने सपने में देखा कि वह अंगूरी साड़ी और हार पहने मैं सितारों के बहुत ऊपर उड़ी चली जा रही हूँ।....

शादी की चहल-पहल को शान्तकर उमा चली गयी। सबों का जी भरा था। मैं अपने कमरे में भीतर गयी, तो देखा पति जमीन पर बैठे हैं और उनके सामने वह बनारसी अंगूरी साड़ी जल-जलकर राख हो रही है और उस राख की ढेर में वह स्वर्ण हार स्याह बनता जा रहा है। वह चुपचाप बैठे हैं और निर्वेद की दृष्टि से आग की लपटों को देख रहे हैं।

मैं कहूँ, उस कमरे का दृश्य कैसा था ? जब अपना कोई प्रिय पात्र मर जाता है, तो भीतर के राग-विराग को समेटकर उसकी चिता में आग लगा देनी पड़ती है। चिता की उस वर्तमान लपट में आदमी अतीत के संस्मरणों और भविष्य के सपनों को बैठा-बैठा स्वाहा करता रहता है। उस समय उसकी आकृति पर जो भाव होता है, वैसा ही कुछ उनकी आकृति पर भी था। मैं देखकर सहम गयी। मुझसे न कुछ बोला गया और न कुछ किया गया। उस जलती चिता को तटस्थ भाव से देखती रही और उस आदमी के मन की व्यथा में मेरा मन भी डूबता रहा। फिर न जाने कब मेरी आँखों में बूँदें बनीं और ढुलक पड़ीं। ढुलक पड़ीं, तो मुझे चेत हुआ।

तभी भैया ने भीतर प्रवेश किया—"नीरू—"

और तब पति भी उठकर खड़े हो गये। मुझ दोनों को एक साथ ही संशय की नजरों से देखकर भैया हत भाव से बोले—"क्या है कुमार?"

पति ने ठण्ढे स्वर में कहा—"कुछ तो नहीं! था, सो जल गया है। अब कुछ नहीं है—राख है।"

भैया कुछ क्षण तक सिर झुकाये सोचते रहे। फिर आँखें उठाकर मेरी ओर देखा। जैसे पूछना चाहते हों कि अब तू ही बता नीरू, कि क्या था! लेकिन वहाँ जो कुछ था, क्या मैं बतला सकती थी? फिर मेरी आँखों में तो अब भी आँसू भरे थे।

भैया तब हारे-जैसे पलंग पर बैठ गये। बोले—"मैं दर्शन सुनने के मूड में नहीं हूँ कुमार! तुम दोनों अपने को ज्यादा पहेली न बनाओ! अन्धा नहीं हूँ, सब कुछ देखता हूँ। तुम दोनों में से कोई सुखी नहीं है—"

पति ने बात बीच में ही काट दी—"कौन सुखी नहीं है? मैं तो हूँ। नीरू, तुम—?" और फिर सम्हालकर बोले—"नीरू तो सच सुखी नहीं है।"

मैं कुछ कहना नहीं चाहती थी, कुछ सुनना नहीं चाहती थी। भीतर से एक बार ही चीखना चाहती थी, कि उस चीख के नीचे दुनिया की सभी आवाजें दब जायँ। और मैं अपनी ही चीख सर्वदा सुनती रहूँ।

बहुत देर तक सन्नाटा रहा। और वह सन्नाटा ऐसा लगा कि विशाल अजगर की तरह कुंडली मारे बैठा है और धीरे-धीरे हम सबों को निगल रहा है। तब पति बोले। भैया से पूछा—"तुम आज ही जा रहे हो?"

"नहीं, अब तो नहीं जा सकूँगा। तुम बोलो कि क्या था?"

पति बरबस हँस पड़े—"एक साड़ी थी। नीरू को जरूरत नहीं थी, उर्मा ने नहीं ली और मैं पहिन नहीं सकता था। कीमती साड़ी रखी-रखी खराब हो जाती, इसलिए जला दी।"

भैया एकटक उनकी ओर देखते रहे। उनकी समझ में क्या कुछ आया? नहीं, नहीं।

तब पति हम दोनों भाई-बहिन को उस कमरे में छोड़कर चले गये। भैया ने जो अब तक अपनी साँस बान्ध रखी थी, वह एकाएक उच्छ्वास के रूप में मुक्त हुई। बोले—"क्या बात है नीरू?"

और मैं उनके पैरों में वहीं गिरकर फफक उठी।

मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए भैया ने कहा—"नीरू! एक बात तू समझ ले, तुम्हें कुमार के बाहर कुछ नहीं सोचना है।"

मैंने उनके घुटने में सिर रगड़ते हुए कहा—"नहीं—नहीं—" रुलाई मैं न जाने क्यों किसी भी प्रकार रोक नहीं पा रही थी।

वह बोले—"और देख, कुमार की आकृति बतलाती है कि आज वह बहुत व्यथित है।" और उन्होंने धीरे से अपने पैरों से मुझे अलग किया और चुपचाप उठकर बाहर चले गये।

मैं पलंग के पाये से लगी उसी प्रकार बैठी रही। फिर धीरे-धीरे वर्तमान से ऊपर उठकर व्यतीत हो गयी। कुछ सोच भी रही होऊँ, वैसी बात नहीं थी। सब सुधि बिसर गयी थी। एकमात्र शून्यता ही मेरे बाहर-भीतर के अन्तराल में चुपचाप बैठी थी और मुझे इसकी भी सुधि नहीं थी कि सब—सब कुछ सुन्न बन उठा है। ऐसे में समय कहाँ से निकलकर कहाँ चला जाता है, कुछ पता नहीं चलता।

न जाने कब पति कमरे में आये। टोका—"नीरू!"

मैंने आँखें उठाकर उन्हें देखा। कुछ बोली नहीं। वह मेरे पास बहुत झुक आये—"यहाँ क्यों बैठी है?" और उन्होंने दोनों तलहथियों के बीच मेरी आकृति को लेकर पूछा—"मुझसे नराज है?"

मेरा अपराधी मन उनकी आँखों में नहीं देख सका। मैंने आँखें बन्द कर लीं। उन्होंने मुझे बाँहों में समेटकर उठाया और पलंग पर बैठा दिया। सामने कुर्सी खींचकर स्वयं बैठ गये। क्षण-भर मेरी ओर देखकर बोले—"अब तक रो रही थी?"

मैं क्या बोलती? चुप थी, चुप ही रही।

तब उनका कण्ठ व्यथित हो आया—"तू तकदीर को मानती है नीरू?"

मैंने आँखें-भर कर उन्हें देखा। बोली कुछ नहीं। वही बोले—"तेरी तकदीर अच्छी नहीं है। लेकिन मैं तुम्हारे दुख का क्या करूँ? लगता है, तुम्हारे आँसुओं में मैं इसी जन्म में, यहाँ ही, डूबकर मर जाऊँगा।"

मेरे मन में हुआ कि मैं इस आदमी के चरणों में सिर डालकर कहूँ कि तुम देवता हो। सारा अपराध मेरा है। मुझे माफ करना चाहो, तो माफ कर दो! लेकिन क्या मैं वैसा कर सकी? नहीं। उसी तरह चुप बनी भी नहीं रह सकी। उल्टे भीतर से कठिन हो आयी—

"तुम क्यों मरोगे ? मरना मुझे है। मरूँगी मैं !" और एकाएक न जाने मुझ में क्या उत्पन्न हुआ कि लगा कि मुझे मर जाने पर ही चैन मिलेगा। मन में एक प्रमत्त दुराग्रह भर आया और मैं कुछ कर डालने के निश्चय में वहाँ से उठ आयी।

उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया—"नीरू !"

मैं उत्तेजित थी और मेरा कण्ठ अवरुद्ध होता आ रहा था—"नहीं, मुझे छोड़ दो ! कलेजे पर बोझ बनकर नहीं रहूँगी।"

उन्होंने हाथ नहीं छोड़ा। उनकी गिरफ्त और कड़ी हो गयी—"पागल हुई हो ?"

"हाँ, पागल ही हुई हूँ।"

एकाएक तब वह हँस पड़े—"तब तो नहीं छोड़ूँगा। पागल छूटकर अनर्थ करता है।" और उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचा।

उनकी पकड़ से छूटने की चेष्टा में मैं दुराग्रह-पूर्वक खड़ी रही—"नहीं छोड़ोगे ?"

"नहीं।"

"—तो तुम्हीं जान से मार दो ! लो खड़ी हूँ। सारा सन्ताप मिट जायगा।"

उन्होंने आँखें उठाकर मेरी ओर देखा। ऐसे देखा कि मुझे नहीं पहचान रहे हों। तब कातर हो आये। कुछ कहा नहीं। चुपचाप उन्हीं नजरों से मेरी ओर देखते रहे। उस देखने में व्यथा भरी थी। फिर धीरे-धीरे उनकी गिरफ्त ढीली हुई और हाथ छूटकर निर्जीव-जैसे अपने बगल में जा रहे। उनकी वह अवश-विवश दृष्टि मुझ पर से हटी नहीं। जब मैंने उन आँखों में देखा, तो उन्होंने सिर झुका लिया और भारी कदमों से बाहर चले गये।

और मैं ! मैं उसी प्रकार विमूढ़-सी खड़ी रही। मेरे भीतर का दुराग्रह, आक्रोश गल चुका था। लेकिन उन चार क्षणों में ही हम

दोनों के बहुत ऊपर छाकर जो कुछ गुजर चुका था, उसके परिताप के बीच विवश पड़ी मैं सीधे पलंग पर आ गिरी—हे भगवान ! मैं क्या करूँ—क्या करूँ मैं ?

दो दिनों तक मेरी उनकी कोई बात नहीं हुई। चुपचाप खा लेते। चुपचाप सो जाते। लगा, जैसे वह मुझ से बात करने से बचते हों। मैं सोचती, यह रूठे हैं, लेकिन मैं क्यों रूठी हूँ ? इसी तरह गाँठ-पर-गाँठ पड़ती जायगी, तो सम्बन्ध-सूत्र में सरलता नहीं रह जायगी। फिर उस गाँठ-पर-गाँठ लगी डोर के सहारे चलना तो कठिन हो जायगा। लेकिन मैं क्या करूँ ? किससे कहूँ ? न अपनी व्यथा समझ में आती थी और न कुछ। भीतर-ही-भीतर घुट रही थी। लेकिन उस आदमी से कहा पार नहीं लगता था। स्पष्ट मैं यह भी समझ नहीं पा रही थी कि मैं क्या चाहती हूँ अथवा जो कुछ चाहती हूँ, वह मन के भीतर क्यों उठ आता है ? मुझ में सदा उग्रता भरी रहती। लगता कि कोई बोलेगा, तो उससे झगड़ पड़ूँगी।

उमा के नहीं रहने के कारण मुझे ऐसा अनुभव होता कि मैं किसी सागर के एकान्त छोर पर अकेली छोड़ दी गयी होऊँ, जहाँ का अपना पहचाना कुछ नहीं है—कोई नहीं है। फिर भी वहाँ का सब कुछ मेरा था। उस घर की रानी मैं थी।

तीसरे दिन जब मैं रसोई में थी, तो वह आये—"राजन आया है।"

मैंने सिर घुमाकर उनकी ओर देखा। वह सिर झुकाए खड़े थे। उनसे पूछा—"यहाँ आया है ?"

"हाँ।"

"क्यों आया है ?"

"तुम से मिलना चाहता है।"

"मुझ से ?—मुझसे क्यों मिलेगा ?"

वह चुप हो आये। उन्हें चुप देखकर मैं उद्धत हो उठी—"बोलिए न, मुझ से क्यों मिलेगा ?"

"विदेश से आया है, बहुत दिनों पर, इसी से मिलना चाहता हो !"

"आप तमाशा करते हैं ?"

उन्होंने सिर उठाकर मेरी आँखों में देखा। कुछ जवाब नहीं दिया।

अपने भीतर उठते हुए धुएँ को भीतर समेटने के लिए मैंने अपने आगे पड़े परवल को और पास खींच लिया और अलक्षित गति से उसे चीरने लगी। कुछ क्षण तक उसी प्रकार खड़े रहने के बाद वह बोले—"मैं क्या कहूँ उससे जाकर ?"

मैं अनायास कठोर हो उठी—"वह मुझसे जबर्दस्ती मिलेगा ?"

वह अकबकाकर बोले—"नहीं तो—"

"उससे जाकर कह दीजिए, मैं किसी से नहीं मिलती।"

उन्होंने सुन लिया और सिर झुका लिया। लेकिन किसी से कुछ कहने के लिए वहाँ से वह नहीं गये। गति जैसे बँध गयी हो, उसी तरह खड़े रहे। और मैं अपने को चारों तरफ से समेटकर तरकारी चीरने में लगी रही। कि एकाएक मेरे मन को छूकर एक बात निकल गयी। अभी क्रोध करने की तो कोई बात नहीं थी, फिर यह क्रोध एकाएक मुझमें क्यों उभर आया ? यह व्यक्ति क्या क्रोध करने के लिए है ? राजन यहाँ चला आया है, तो इसमें इनका दोष तो नहीं है। लेकिन इस राजन को क्या यहाँ आना चाहिए था ? और एक प्रकार की तरल आर्द्रता मेरे मन के भीतर उतरती गयी। तब मैंने नजरें उठाकर उनकी ओर देखा—"एक बात पूछूँ ?"

उन्होंने मेरी आँखों में देखा। कुछ बोले नहीं। लेकिन दृष्टि कह रही थी कि मैंने कभी पूछने से रोका है ?

मैंने पूछा—"आप मुझे क्या करना चाहते हैं?"

"तुम्हें?—तुम्हें—क्या मैं—"

"हाँ, मुझे—"

"कुछ तो नहीं करना चाहता!"

"जलील करना नहीं चाहते?"

वह संभ्रान्त मेरी ओर देखते रहे।

"आप मुझे अपनी पत्नी समझते हैं?"

"आँ—"

"प्रश्न को टालिए नहीं। पत्नी समझते हैं, तो पत्नी की तरह क्यों नहीं रखते? जिस-तिस के सामने मुझे क्यों भेजना चाहते हैं?"

"राजन तो तुम्हारा मित्र है—अपना है।"

मेरा धीरज फिर खो गया। मैं अपने को संयत नहीं रख सकी—"और तुम अपने नहीं हो?"

"नहीं, नहीं, मेरा मतलब—" वह करुण हो उठे।

"—तो साफ क्यों नहीं कहते कि उस राजन के साथ निकल जाओ घर से।"

वह जल्दी-जल्दी बोले—"अच्छा, तो नहीं मिलो—नहीं मिलो।" और वह जाने के लिए मुड़े।

तभी माँ अन्दर आयीं। मेरे कण्ठ में आया शब्द रुक गया।....

खाने के लिए वह और राजन साथ बैठे। राजन ने मुझे टोका—"और आप? आप क्या नहीं बैठेंगी?"

पति बोले—"नहीं, वह साथ नहीं खातीं।"

राजन क्षणभर उनकी ओर देखता रहा—"क्यों?"

पति ने अनिच्छा से जवाब दिया—"मैं इतना ही जानता हूँ कि नहीं खातीं, बस।"

राजन ने कहा—"तुम भी कुमार, रूस से हो आये, लेकिन संस्कारों की संकीर्णता से ऊपर नहीं उठे। औरत को भिन्न मानते हो?"

"नहीं, मैं नहीं मानता!"

"तो साथ खाने में हर्ज क्या है?"

"हर्ज है या नहीं, यह तो वही जानें। लेकिन एक मर्यादा की सीमा है, औरतों को उसी के भीतर रहना है।"

"मर्यादा?" राजन हँसा—"मर्यादा की यह सीमा तो पुरुषों ने घेरी है।"

"घेरी होगी! लेकिन नारियों ने मान लिया है।"

"मान लिया है? ऐसा क्यों नहीं कहते कि मानना पड़ा है। नारी आर्थिक रूप में स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए पुरुषों के चरणों की दासी है और आँसू बहाती सब कुछ सहती है।" राजन ने कहकर उनकी ओर देखा।

पति बोले—"खाने बैठे हो न? खालो, तो तर्क करना!"

राजन बोला—"जहाँ नारियाँ आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हैं, वहाँ तुम्हारी थोथी मर्यादा का कोई घेरा नहीं है, यह तुमने आँखों देखा है।"

पति ने सिर झुकाये ही कहा—बहुत धीरे कहा—"जहाँ घेरा उठाया गया है, वहाँ उच्छृंखलता बढ़ी है।"

"मुक्ति को उच्छृंखलता बतलाते हो?"

"नहीं, दोनों बहुत भिन्न हैं। लेकिन तुम खाओगे नहीं?—लड़ोगे?"

मैं वहाँ से टलकर रसोई में चली आयी। दुबारे जब वहाँ गयी, तो दोनों की बात-चीत का विषय बदल चुका था। यही कि उमा

की शादी में कितना खर्च हुआ ? कितने लोग आये थे ? लड़का कैसा है ? क्या करता है ?

जब वे खा चुके, तो मैं पान देने गयी। राजन ने पान लेते हुए कहा—"आप तो बहुत बदल गयीं निरुपमा देवी !"

एक बार पति ने पलकों के भीतर से मुझे देखा और बाहर चले गये। मैंने राजन से कहा—"तुम जाओ राजन !"

"क्यों ? डरती हो ?"

"नहीं, तुम जाओ !" मेरे स्वर में अनुनय की कातरता स्पष्ट हो उठी।

और जब राजन विमूढ़ भाव से देखता उसी तरह वहाँ खड़ा रहा, तो मैं भागकर अपने कमरे में चली आयी।....

दोपहर में राजन एक चिट्ठी दे गया। उस छोटे-से पत्र में उसने बहुत-सी बातें लिखी थीं। ऐसी बातें भी लिखी थीं, जो नहीं लिखनी चाहिए थीं। पढ़ने पर मुझे शर्म मालूम हुई और मैं लाल हो आयी। लिखा था कि मौका निकालकर एकान्त में मिलो। मैंने चिट्ठी एक ओर डाल दी और अवसन्न भाव से पड़ी रही।

बाहर किसी की आहट मालूम पड़ी। मैंने वह चिट्ठी छिपाकर रख ली। पति थे। अन्दर आये। क्षण-भर मेरी ओर देखते रहे। न जाने मेरे चेहरे पर क्या लिखा था कि पढ़कर बोले—"क्या हुआ है ?"

"किसको ?—कुछ तो नहीं हुआ !"

"ऐसी क्यों बनी हो ?"

"कैसी बनी हूँ ?" और मैंने हँसने की चेष्टा की।

"थक गयी हो, आराम कर लो।" और वह आलमारी से किताब निकालकर चले गये।

मैंने वह चिट्ठी निकाली और एक बार फिर पढ़ गयी। मन राजन पर क्रुद्ध हो उठा। यह राजन मुझे क्या समझता है! उससे मैं पार्क में आज रात में क्यों मिलूँ?—एकान्त में? और यह चिट्ठी अगर मैं उन्हें दिखला दूँ, तो?....नहीं, उन्हें दिखला देना ही ठीक होगा, कि देखो अपने राजन बाबू को, मेरे पास ऐसी चिट्ठी लिखते हैं।

एक बार जी में आया कि उस चिट्ठी को चित्थी-चित्थी कर फाड़ डालूँ और फेंक मारूँ उस राजन के मुँह पर कि ऐसी चिट्ठी लिखने में शर्म नहीं आती! मैं वैसा ही निश्चय लेकर उठी। बाहर बैठक में राजन उनसे उलझा हुआ था—"तो तुम विवाह को पुरुष और नारी के दायित्वों का नैतिक सम्बन्ध-भर ही मानते हो?"

पति ने उपेक्षा भाव से जवाब दिया। स्वर स्थिर था—"मैं जो मानता हूँ, सारी दुनिया का सुलझावा वही तो नहीं है। इस सम्बन्ध में सब के अपने अलग अनुभव हैं, इसलिए अलग राय भी हैं। जहाँ तक मानने का प्रश्न है, वह मन से है। मानता आदमी मन से ही है—बुद्धि से नहीं। बुद्धि से स्वीकार करना पड़ता है। सो इन दायित्वों का नैतिक बन्धन बुद्धि को स्वीकार करना पड़ता है। लेकिन वस्तुतः बन्धना तो मन को है। मन नहीं बन्धा, तो निवाह नहीं होगा। तब विवाह का क्या अर्थ रह जाता है?"

"शरीर का सम्बन्ध।"

पति बहुत उत्कट हो आये। लगा कि उनके भीतर जहर का झाग उफन आया है और वह उसे अपने भीतर किसी भी प्रकार समेट नहीं पा रहे हैं। स्वर भीषण रूप से स्थिर था—"और जिसके शरीर का सम्बन्ध विवाह के पहले हो चुका हो?"

राजन बोला—"शरीर और मन को तो तुम दो मानते हो?"

"दो तो है ही। तुम शरीर की भूख की प्रकृतिगत अनिवार्यता की बात करोगे। लेकिन इस शरीर की भूख के आगे मन हारेगा, तभी शरीर हारेगा।"

"फ्रायड ने—" राजन न जाने क्या कहना चाहता था कि उन्होंने बात काट दी—"फ्रायड ने जो कुछ कहा है, उसे बुद्धि स्वीकार करती है, लेकिन मन नहीं मान सका है।"

"यह तुम्हारा संस्कार है।"

"मैं अस्वीकार नहीं करता। लेकिन बुद्धि आज की है, संस्कार पुराना है।"

मैं लौटकर वापस चली आयी। पलंग पर लेटी-लेटी सोचती रही। तब एक बार फिर उस चिट्ठी को निकालकर पढ़ा। चिट्ठी पढ़ लेने के बाद लगा कि उस चिट्ठी के बहुत पार—सामने की दीवार पर गहरे अक्षरों में लिखा है—'मन नहीं बन्धा, तो निवाह नहीं होगा। तब विवाह का क्या अर्थ रह जाता है?'—'और जिसके शरीर का सम्बन्ध विवाह के पहले हो चुका हो?—लेकिन उस शरीर की भूख के आगे मन हारेगा, तभी शरीर हारेगा।'

मैं भीतर से बहुत अस्वस्थ हो आयी। लगा कि मुझसे उस प्रकार लेटा रहा नहीं जायगा। और अगर उस तरह सोचती रही, तो सोचकर न जाने क्या कर बैठूँ। उठकर बाहर आयी और अपने को काम में फँसा दिया। साँझ हुई, तो देखा कि चौका-बर्तन का सारा काम चुक गया है और अब मैं खाली हो आयी हूँ और भीतर से ऐसी तैयार हूँ कि कहीं जाना है।

पति भीतर आये, तो बोली—"कोई अच्छी फिल्म लगी हो, तो चलिए देख आवें!"

"मैं?—मैं तो नहीं जा सकूँगा। साहित्य-परिषद में जाना है।" वह ऐसे कातर स्वर में बोले जैसे क्षमा माँग रहे हों।

मैंने कहा—"आज वहाँ नहीं जायँगे, तो क्या होगा ?"

"नहीं, जाना तो है ही।"

मैं आगे कुछ बोली नहीं। वहाँ से टल आयी। सोचती रही कि चलो, अच्छा हुआ। न जाने क्यों मेरे मन में सिनेमा जाने की बात उठी थी। लेकिन वह बात मन में एक बार उठकर फिर दबी नहीं। मैंने लोगों को खिलाया-पिलाया। स्वयं भी खा चुकी और कपड़े बदल कर तैयार हो गयी।

पति भीतर शायद यह कहने के लिए आये थे कि मैं परिषद् जा रहा हूँ। लेकिन मुझे देखकर चुपचाप खड़े रह गये। मैंने कहा—"सिनेमा जाती हूँ।"

"जाओ !" जैसे भीतर से वह बहुत थके हों, वैसे ही स्वर में बोले। उन्होंने एक बार भी नहीं पूछा कि किसके साथ जाती हो ? अथवा उन्होंने जाने से रोका भी नहीं। यह बात मुझे न जाने कैसी होकर लगी। क्षणभर पीड़ित दृष्टि से उनकी ओर देखती रही कि यह आदमी कैसा है, जो सब कुछ इस प्रकार वरण कर लेता है ! अपनी ओर से सफाई देती हुई मैं बोली—"आपको न तो कभी परिषद् से फुर्सत मिलेगी और न लिखने से छुट्टी होगी। कोई अकेली रहते-रहते घुटकर मर जाय, आपकी बला से। न जाने कितने महीने के बाद फिल्म देखने को भी कहा, तो परिषद की बैठक भी आज ही निकल आयी।"

वह स्थिर दृष्टि से मुझे देखते रहे। कुछ बोले नहीं। मैं ही बोली—"अकेली जाती हूँ, आपको कोई एतराज तो नहीं है ?"

वह बोले—"नहीं—एतराज नहीं। जाओ !" और तब वह मेरी ओर नहीं देख सके। कुर्सी पर बैठ गये और उसकी पीठ पर सिर टिकाकर छत की ओर देखने लगे। मैंने देखा कि उनमें कहीं दुविधा है और व्यथा है और वह बहुत तेजी से सोच रहे हैं। मैं वहाँ से गयी

नहीं। ज्यों-की-त्यों खड़ी रही। उन्हें उस तरह देखकर पाँवों में बल नहीं रहा कि आगे बढ़ूँ। उस समय वह एक बार भी कहते कि नहीं जाओ, तो मैं रुक जाती। लेकिन उन्होंने वह नहीं कहा। पूछा—"फिल्म कब बजे शुरू होती है?"

बिना किसी प्रकार की उत्कण्ठा के मैं बोली—"नौ बजे।"

"—तो जाओ, रिक्शा ले लेना!" और वह अपने को कुर्सी पर से जबर्दस्ती खींचकर उठ गये। मेरी ओर पीठ कर आलमारी के सामने खड़ा होकर किताबों में कुछ खोजने लगे। मैं अच्छी तरह जान गयी कि वह वहाँ कुछ खोज नहीं रहे हैं। सिर्फ मेरी उपस्थिति को टाल जाना चाहते हैं। इसलिए मैं भी टलकर धीरे-धीरे बाहर चली आयी।

सड़क पर आकर खड़ी हो गयी। मन ने कहा—नीरू, तू अच्छा नहीं कर रही है, लौट चल। मैंने ठिठककर पुरखों के उस मकान की ओर देखा, जिसके बाहर मैं इस प्रकार अकेली कभी नहीं हुई थी। लगा कि इस मकान से आज निकल कर जा रही हूँ और फिर कभी नहीं लौटना है—

कि एक रिक्शा वाले ने आवाज दी—"स्टेशन!"

स्टेशन मुझे जाना नहीं था। फिर भी रिक्शे में बैठ गयी। रिक्शावाले ने आगे आकर कहा—"आपके लिए मुझे चार चक्कर लगाना पड़ा है।"

मैंने सुन लिया और चुप रही।

और जहाँ आकर रिक्शा लगा, देखा कि राजन खड़ा है। उसने मुझे हाथों का सहारा देकर उतारा। फिर हम दोनों ही सदाशिव पार्क की उस नरम-नरम घास पर चलते गये। जैसे मैं अपने आप में न थी और अपने को जानकर रखने का आग्रह भी नहीं था। जैसे किसी होनहार की प्रेरणा से सब कुछ होता चल रहा था।

दूबों पर बैठते हुए राजन ने कहा—"बैठो !"

मैं बैठ गयी। न जाने मेरा जी कैसा हो आया। लगा कि बहुत अस्वस्थ हूँ और मेरा दम घुँट रहा है। बोली—"मेरा जी अच्छा नहीं है।"

राजन ने एक बार सिर उठाकर मेरी ओर देखा। फिर झुका-कर कुछ सोचने लगा। बोला कुछ नहीं।

मैंने पूछा—"क्यों बुलाया था ? बोलो ! मैं बहुत थकी हूँ। रुकूँगी नहीं।"

राजन का कण्ठ काँप गया—"रुकोगी नहीं ?"

"नहीं।"

"—तो आयी क्यों थी ?"

आक्रोश से भरकर मैं बोली—"आयी थी इसलिए कि तुम्हारी उस आग को देख लूँ, जिसके लिए तुमने मुझे रात के इस अन्धकार में ऐसी जगह मिलने के लिए बुलाया है।"

"नीरू !"

"नहीं, मुझे नीरू नहीं कहो !"

"क्या कहूँ !"

"कुछ भी कहो, नीरू नहीं कहो !"

"क्यों ?"

मैं उत्कट हो उठी—"क्यों की बात मैं नहीं जानती।"

राजन चुपचाप मेरी ओर देखने लगा।

मेरा मन अस्वाभाविक रूप से विकल था—"मुझे जितना नीचा उतारना था, आज उतार ही लिया। पति की नजरों में भी कहीं का नहीं छोड़ा।"

इस बीच राजन घास पर लेट गया था। मेरी ओर सिर उठाकर बोला—"यहाँ आने का तुम्हें दुख है ?"

"हाँ, है।"

"इसलिए कि अब मैं कोई नहीं हूँ ?"

"नहीं, इसलिए कि अब पत्नी हूँ।"

"—तो क्यों आयी ?"

सच तो, क्यों आयी मैं ? क्या मुझ में सम्पूर्ण रूप से न आने का भाव था ? नहीं था। फिर भी अपना दोष किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं हो रहा था। मैं क्रुद्ध हो आयी—"मुझसे पूछते हो कि क्यों आयी ? तुम्हें उस प्रकार की चिट्ठी लिखते शर्म नहीं आयी ?"

राजन न जाने क्या सोचता रहा। तब बोला—"वहाँ से क्या कहकर आयी हो ?"

"कुछ भी कहकर आऊँ, उन्हें धोखा नहीं दे सकती। वह हजार आँखों से सब कुछ देखते हैं।" कहकर मैंने देखा कि चारों ओर का अँधेरा बहुत गहरा है। भीतर मैं बहुत बेचैन हो रही थी।

राजन छाती के बल लेटा अपनी बाँहों में सिर गाड़े पड़ा रहा।

मैंने कठिन होकर कहा—"अन्धेरे में इस प्रकार बैठाकर जलील करने के लिए बुलाया था ?"

उसी प्रकार पड़े-पड़े उसने कहा—"नहीं, मुझे तुमसे कुछ कहना था।"

"कहते क्यों नहीं ?"

"पाँच वर्षों से जो आग कलेजे में दबी है, वह पाँच मिनट में तो नहीं खतम होगी। और तुम्हारे पास समय नहीं है। तुम जाओ!" राजन का कण्ठ भारी हो आया।

मुझमें पीड़ा का भाव संकुल होता गया। दर्द-जैसा उमर-उमरकर कुछ भीतर से ऊपर आने लगा। मैं चुपचाप उस राजन की ओर ताकती रही, जो बाहुओं में सिर गाड़े पड़ा था और जो न जाने कैसी व्यथा से आवृत्त था। मेरा स्वर आर्द्र हो आया—"राजन!"

राजन उसी तरह पड़ा रहा।

"तुम पिछला सब कुछ भूल नहीं सकते राजन ?"

राजन ने सिर ऊपर उठाया—"भूल जाऊँ ?"

मेरे अन्तर की व्यथा कण्ठ में आकर अँटक गयी। मुझसे कुछ बोला पार नहीं लगा। राजन ने ही कहा—"तुम सुखी रहती, तो मैं सब कुछ भूल जाता।"

"मैं जैसी भी हूँ, ठीक हूँ। होनहार के आगे मुझे पूर्ण रूप से समर्पित हो जाने दो। राह में आकर मुझे रोको नहीं।"

राजन ने सुन लिया और फिर उसी तरह बाँहों में सिर छिपा लिया। बहुत देर तक कोई कुछ नहीं बोला। और उस खामोशी में अतीत की स्मृतियों का धुन्ध और गहरा होता गया। ऐसे में मन फैलकर दूर-दूर उड़ता रहता है और वाणी मिट जाती है।

मैंने टोका—"राजन !"

"क्या है ?"

"तुम यहाँ नहीं आते, तो कुछ बिगड़ जाता ?"

राजन ने उस अन्धकार में ही मुझे गहरी नजरों से देखने की चेष्टा की। कहा कुछ नहीं, जैसे कण्ठ अवरुद्ध हो।

मैंने कहा—"नारी बहुत दुर्बल होती है राजन ! इस प्रकार मुझे धुरी मानकर मेरे चारों ओर घूमते रहोगे, तो न मुझे चैन मिलेगा और न तुम्हें।"

एकाएक राजन ने अपना सिर उठाकर मेरी गोद में डाल दिया—"मन नहीं मानता नीरू, मैं क्या करूँ ?—बोलो, क्या करूँ ?" और अपने उच्छ्वासों को बान्धने के लिए वह मेरी गोद में अपना सिर रगड़ता रहा।

एक बार जी में आया कि राजन के उस सिर को अपनी गोद से उठाकर अलग कर दूँ और वहाँ से उठकर चली आऊँ। लेकिन

वह सब मैं कर नहीं सकी। खामोश जैसी-की-तैसी बैठी रही—गत-आगत से व्यतीत होकर। उसी दशा में न जाने कब तक बैठी रही। सुधि तो तब आयी, जब कि राजन ने मुझे दोनों बाहुओं में बान्धकर पुकारा—"नीरू!"

उसके स्वर में वासना का अतिरेक था, जो साँसों के क्रम में अनु-लय था।

उसके दोनों हाथों को अपनी कमर से छुड़ाती हुई मैं एकाएक हड़बड़ाकर बोली—"छोड़ो राजन!"

"नहीं, आज नहीं!"

एक साथ ही मुझमें भय, क्रोध और घृणा भर उठी। तड़पकर बोली—"राजन!" और उससे छूटकर अलग हो गयी। भागकर सड़क तक आयी। रिक्शा वाला अब भी वहीं खड़ा था। मैं रिक्शे में आकर बैठ गयी।....

घर पहुँची, तो बाहर बैठक में रोशनी जल रही थी। भीतर जाने का रास्ता इस बैठक होकर ही था। कौन-सा मुँह लेकर अन्दर जाऊँ? ग्लानि से इतना सिर झुका था कि मन में यही भाव भर आया—धरती फट जाय, तो उसमें समा जाऊँ।

भीतर भैया और पति धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। बात मेरे ही विषय में थी। मैं किवाड़ की ओट में दीवार से लगी खड़ी रही।

भैया ने पूछा—"वह तुमसे बिना पूछे गयी है?"

"नहीं, पूछकर गयी है।"

"और तुमने जाने दिया?"

"जाने क्यों नहीं देता? सिनेमा ही तो गयी है।"

"सिनेमा गयी है ?"

"हाँ !"

"नहीं ।" भैया जरा कठोर होकर बोले ।

फिर दोनों चुप हो गये ।

कुछ क्षण बाद भैया व्यथित कण्ठ से बोले—"तुम मुझे सजा देना चाहते हो कुमार ?"

पति कुछ बोले नहीं । और अगर बोले भी, तो मुझे सुनाई नहीं पड़ा । भैया कह रहे थे—"तुम सब जानते हो कि वह कहाँ गयी है । फिर जान-बूझकर उसे क्यों जाने दिया ? वह अपना अहित नहीं समझती । उसके लिए मैं तुमसे भीख माँगता हूँ । वह नारी है । दुर्बल है । असंख्य विरोधों के विरुद्ध, निरुपमा की अनिच्छा के बावजूद मैंने उसे तुम्हारे पास इसलिए सौंपा था कि तुम उसे बल दो । लेकिन उससे अपने को इस तरह काटकर रखोगे, तो न जाने किधर वह बह जाय । उसे तो घेरकर रखना है ।"

पति ने बहुत धीमे स्वर में कहा—"वह बेचारी तो बहुत घिरी है । खुद अपने को घेरकर रखती है । लेकिन अपनी भावनाओं को घेर नहीं पाती; इसलिए व्यथित रहती है । क्या कहते हो कि उसे और घेरकर मार डालूँ ?"

भैया को कोई उत्तर नहीं सूझा, शायद इसीलिए सोचते चुप रहे ।

और फिर आगे कोई बात नहीं हुई । मेरे पैरों में बल नहीं रह गया था । फिर भी न जाने किस अदृश्य सूत्र के सहारे टँगी खड़ी रही । मेरे बाहर-भीतर चारों ओर जड़ता भरती गयी ।

कि भैया ने पूछा—"कय बजता है ?"

"एक ।"

"वह आयी नहीं ।"

पति कुछ नहीं बोले।

भैया ने मार्मिक ढंग से पूछा—"कुमार, वह अब तक नहीं आयी, इसकी तुम में कोई चिन्ता नहीं है?"

"चिन्ता तो है। न जाने क्यों देर हुई!"

"तुम्हारे मन में कोई दुष्कल्पना नहीं है?"

"नहीं।"

"नीरू पर विश्वास है?"

पति ने इसका सीधा उत्तर नहीं दिया। बोले—"पत्नी पर तो विश्वास करना ही पड़ता है।"

भैया चुप रह गये।

मेरे जी में आया कि पति के चरणों में जाकर सब कुछ स्वीकार कर लूँ कि नहीं, कच्ची नीरू पर विश्वास नहीं करो! और फिर उन्हीं चरणों में सिर रगड़-रगड़कर मर जाऊँ।

मैं किसी तरह अपने को सम्हालती भीतर दाखिल हुई। दोनों चुप हो गये। मुझसे सिर उठाकर इतना भी नहीं देखा गया कि वहाँ और कौन है। मैं सीधे भीतर के दरवाजे में जाने लगी, तो भैया ने टोका—"नीरू!"

क्षण के सतांश-भर में दरवाजे पर रुकी। रुकी नहीं। मन में सिर्फ आया भर कि रुकूँ, लेकिन अपने को बरबस खींचती अपने कमरे में चली आयी। भीतर आकर मुझे लगा कि वर्षों के बाद यहाँ लौटी हूँ। चारों ओर नजर उठाकर देखा। सब कुछ जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों धरा रखा था। मैं भीतर थोड़ा आश्वस्त हुई।

पति अन्दर आये और आकर खड़े हो गये। न जाने क्या कहने आये थे और अब चुप खड़े थे। फिर धीरे से कहा—"तुम देर से लौटी और यहाँ लोग आशंका में थे।"

मैं कुछ बोली नहीं। चुपचाप पलकें उठाकर उनकी आँखों में देखा—वे आँखें बहुत सुन्दर थीं। और मैं जैसे पहली बार उन्हें देख रही होऊँ, उसी तरह द्रवित विस्मित खड़ी उन्हें निरखती रही। फिर अनजाने ही न जाने कब मेरी आँखों में आँसू घिर आये और पलकों में बूँद बनकर चू पड़े—टप!

उन्होंने भरे कण्ठ से टोका—"नीरू!"

और मैं कटे पेड़ की तरह उनके चरणों में आ गिरी और फफक-फफककर रोने लगी। उन्होंने मुझे सम्हालते हुए पूछा—"क्या बात है नीरू? रोती क्यों है?"

मेरे पास जवाब नहीं था। जी चाह रहा था कि इस काया को छोड़कर उनकी आत्मा में प्रवेश कर जाऊँ और फिर इस काया में कभी न लौटूँ। इस काया से न जाने क्यों आज घृणा हो रही थी। मेरा रूप ही मेरे आगे सदा छलावा बनकर आता रहा। आज मुझे अपने रूप, यौवन, काया, किसी पर भरोसा नहीं था। अपने आप पर भी नहीं था। जिसके चरणों में अपना सिर डाले रो रही थी, उसी पर भरोसा था, बस। इसलिए मैंने अपने बाहुओं का घेरा और कस लिया। रुलाई और तेज हो आयी।

उन्होंने मुझे सम्हालकर उठाया और पलंग पर डाल दिया।

मैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहती थी। ऐसा लगता था कि आज छूटी, तो फिर कभी किनारे नहीं लगूँगी। बेहोश-सी उनकी गोद में सिर डाले पड़ी रही। वह मेरी पीठ सहलाते रहे। फिर बालों में उँग-लियाँ उलझाते रहे। धीरे-धीरे उँगलियाँ शिथिल हुई और फिर स्थिर हो गयीं, जैसे वह किसी सोच में आ पड़े हों और फिर उस सोच से भी अलग होकर चेतना कट गयी हो।

फिर मेरी गरदन पर टप् से एक बूँद आँसू चूआ और फिर लगातार कई बार चूआ। ऐसा लगा, जैसे जिनकी आँखों से वे

आँसू बूँद बनकर चू रहे थे, उन्हें पता नहीं था और अनजाने में ही गर्दन भींग रही थी।

मैंने सिर उठाकर उन आँखों में देखा। उनकी वह दृष्टि मन के बहुत भीतर आर-पार होती चली गयी। मैंने उठकर उन्हें झिंझोड़ते हुए पूछा—"आप क्यों रोते हैं?—बोलिए!" और अपने आँचल से उनके आँसू पोछने लगी। उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। ओठों पर मुस्कान लाकर बोले—"रोता कहाँ हूँ?"

और मैं उन आँखों में चुपचाप देखती रही।

मेरा भीतर बहुत दुख रहा था, जैसे कहीं पक रहा हो, कि जब तक मवाद सब-का-सब नहीं निकल आयगा, जी को चैन नहीं मिलेगा। वह मेरी ओर खामोश निगाहों से देख रहे थे। मैंने पलकें झुका लीं। धीरे से कहा—"मैं आज राजन से मिली थी।"

वह कुछ नहीं बोले। और न कुछ पूछा ही। तब मेरे लिए वह घड़ी और कठिन हो आयी। यह सदा इसी प्रकार चुप क्यों रहते हैं? उस दिन मुझमें उनके विरुद्ध भय आ समाया। उनकी आँखों में देखा, तो लगा कि दृष्टि रेशम-जैसी तो जरूर है, लेकिन मेरे भीतर बहुत गहराई में उतरकर सब कुछ देख रही है। मेरे बाहर का—भीतर का, कुछ उससे छिपा नहीं है।

मैंने विकल होकर पूछा—"मुझे वहाँ क्यों जाने दिया?"

वह चुपचाप मेरी ओर देखते रहे।

मेरे स्वर में तब विवशता आ भरी—"क्या चाहते हैं कि मैं इस घर में न रहूँ?"

वह केहुनी टेके, तलहथी में ठुड्डी गाड़े मुझे गहरी नजरों से देखते रहे। तब आँखें नीची कर लीं और तलहथी पर अपना सिर डाल लिया। उनकी उँगलियाँ कसकर अपने ही बालों में उलझ गयीं।

"राजन आज दोपहर में मेरे पास चुपके एक पत्र दे गया था।" और मैंने अपने पास से वह पत्र निकालकर उनके आगे रख दिया। वह उसी प्रकार सिर झुकाये चुपचाप बैठे रहे। पत्र खोलकर देखने की कोई उत्कण्ठा उनमें न जगी। तब मैं और उघरकर बोली—"राजन से मैं और भी कई बार मिल चुकी हूँ।"

उन्होंने धीरे से कहा—"जानता हूँ।"

"मुझपर अविश्वास नहीं होता?"

उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया।

मैंने उनके हाथों को अपने हाथों में लेकर अपनी ओर खींचा और कहा—"मेरी डोर काटकर अलग हो जाना चाहते हैं?"

"आज तुम्हें क्या हुआ है नीरू?"

"हुआ कुछ नहीं है। चाहती हूँ कि आज आप मेरे विषय में सब कुछ जान लें और कोई जहर ला दें कि खाकर चुपचाप सो रहूँ।"

वह उठकर पलंग के नीचे खड़े हो गये। मेरे सिर पर से आँचल खिसककर नीचे गिर गया था। बाल ढीले हो आये थे। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए उन्होंने व्यथित (जिसमें संसिक्त रिक्तता ही अधिक मूर्त दीख पड़ी) कण्ठ से कहा—"नीरू...." सिर्फ नीरू भर ही कहा और वहाँ से चले गये।

मैं वहीं चुपचाप बैठी खिड़की के बाहर आसमान को देखती रही। बादल घिरे और बरस पड़े। अन्धकार में तेज गिरती बूँदों की बौछार की ओर आँखें देख रही थीं। लेकिन दिखलाई कुछ नहीं दे रहा था। दीवारों से जो बौछारें टकरातीं, उसी की आवाज निरन्तर कानों में आती रही और न जाने कब तक आती रही।

: ५ :

सबेरे उठी, तो जी हलका था। बूँदें अब भी गिर रही थीं। आसमान अब भी घिरा था। उठकर मैं फारिग हुई और फिर घर के काम में लग गयी। चूल्हे में आग जलाकर कोयला रख दिया कि ताव बनकर तैयार हो जाय। फिर नहाया। भीगे बालों को तौलिये से सुखाया। घर में आकर जब आइने के सामने खड़ी हुई, तो अपना ही रूप निरखती रह गयी। उस दिन मैंने नयी दुलहन की तरह शृंगार किया। हलका मेकअप किया। ढीला जूड़ा बांधा। कानों में रिंग उतारकर बुन्दा डाल लिया और हाथों में कंगन; सिल्क की साड़ी और आसमानी रंग की नमस्तीन। इस बीच मैं बराबर अपने को आइने में देखती रही। यह सब किस निमित्त हो रहा था? इसका क्या प्रयोजन था? एक क्षण के लिए भी मेरे मन में यह भाव उदित नहीं हुआ। बस, अपने को सँवारती रही।

ऐसे क्षणों में, जब कि आदमी मन के भीतर बहुत हलका हो, तो उत्साह घिर आता है और मन में होता है कि बस, इसी तरह हलका-हलका उड़ता रहूँ। तब आदमी ऐसा भी कुछ कर लेता है, जिसका कोई अर्थ नहीं होता। लेकिन मन तो किसी काम की व्यर्थता को स्वीकार कर नहीं चलता! वह अलक्ष्य भाव से, अनजाने तौर से कुछ कर लेता है। अर्थ नहीं खोजता।

पति न जाने किस समय आकर पलंग पर लेट गये थे। आँखें लगी थीं। मैं खड़ी-खड़ी चुपचाप उनकी आकृति को निरखती रही। वहाँ आत्म-सन्तोष और उल्लास का भाव था। न जाने वह कोई सपना देख रहे थे या क्या, कि अन्तर्मन बहुत मुखर होकर आकृति की लुनाई पर बिछुल रहा था। उन बन्द आँखों में भी सम्मोहन था। ओठ ऐसे सम्पुट थे कि लगता था किसी को चूमने की चेष्टा में हों। तब धीरे से मैं उसी पलंग पर उनके बहुत पास होकर बैठ गयी और उन ओठों को देखती रही—उन आँखों को देखती रही।

कि न जाने अन्तर की किस अदमित प्रेरणा से मैं उनके ओठों तक झुक आयी और धीरे से चूम लिया। ऐसे चूमा कि उन ओठों को मालूम न हो। लेकिन उनकी आँखें खुल आयीं। गहरी नजरों से उन्होंने मुझे देखा। ओठ खुले—"नीरू...."

और मैंने एक बार उन आँखों में देखा—सिर्फ एक बार, और फिर आँखें बन्द कर लीं। न जाने किस भाव की अभिव्यक्ति में मेरे ओठों से निकला—"नहीं।" और मैं बहुत ढीली छूटकर उनकी छाती पर आ पड़ी और मेरे ओठ उनके ओंठों पर स्थिर हो गये।

वह मेरी दोनों बाँहों को पकड़कर झटके से उठे। मेरे और अपने बीच अपनी तनी बाँहों का फासला डालकर उन्होंने मुझे पलंग के एक ओर बैठा दिया। मर्माहत दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे। धीरे-धीरे वह बहुत शिथिल होते गये और आकृति पर परास्ति का भाव स्पष्ट हो उठा। वह पलंग से नीचे उतर गये। मैंने उन्हें कुरते के सहारे खींचकर अपने पास कर लिया और उनकी आंखों में देखती हुई पूछा—"आप मुझे अपवित्र मानते हैं?"

वह खिड़की के बाहर दूर—बहुत दूर देखते रहे।

मेरा अन्तर एक अज्ञात व्यथा से कंटकित हो उठा। संसिक्त कण्ठ से मैंने दुहराया—"आप मुझे जूठी मानते हैं? इसलिए ग्रहण नहीं कर सकते?"

वह तब भी स्थिर भाव से उसी प्रकार दूर-दूर देखते रहे।

मैं उनके सहारे खड़ी हो आयी और उनकी छाती पर सिर डाल-कर कहा। कहा नहीं, अनुनय किया। ऐसे अनुनय किया कि धरती और आकाश सब पिघल जाय—"मैं पापिन हूँ—बहुत बड़ी पापिन। मेरी आत्मा में बल नहीं है कि डूब मरूँ या देह में आग लगा लूँ। आपका बड़ा उपकार मानूँगी, मेरी देह में दियासलाई लगा दीजिए!"

तब उन्होंने मेरी ओर देखा। उनकी बंधी साँस एकाएक तब उच्छ्वास बनकर बाहर हुई। बोले—"आज का शृंगार क्या इसी-लिए किया था?"

मैं उनकी बातों का अर्थ नहीं समझ सकी और न उन आँखों में देख ही सकी। वह बहुत देर तक चुपचाप उसी तरह खड़े रहे। फिर मेरी ठुड्डी को उँगलियों के सहारे उठाकर मेरी आकृति को अपने सामने कर लिया। मैंने अपनी उन बन्द आँखों के भीतर से ही देखा कि उनकी आकृति मेरी आकृति के बहुत पास है। उनकी गर्म साँसें मेरी नाक के ऊपर बहुत निकट लग रही थी। एक बार आँखें खोल-कर मैंने देखा। देखा कि उनके ओठ—उत्तप्त ओठ मेरे ओठों के बहुत पास हैं—एकदम पास हैं और अब कुछ हो पड़ेगा। मैंने आँखें फिर बन्द कर लीं उनकी छाती पर अपनी ठुड्डी अँटकाए मैं न जाने किस आवाहन की प्रतीक्षा में खड़ी रही।

कि वह बोले—"नीरू, जिस दिन तुम्हारा मन और शरीर दोनों असुन्दर बन जाय, उस दिन मुझे कहना। अभी जो विश्वास है, उसकी डोर न काटो!"

और मुझे उसी तरह, वहीं छोड़कर बाहर चले गये। मैं पलंग के पाये का सहारा लेकर खड़ी हो गयी। सोच भी न सकी कि क्या हो गया।

माँने रसोई घर से पुकारा—"बहू !"

आवाज कानों से टकराई और वहीं रह गयी। जैसे कोई चीज चट्टान की दीवार से टकराकर, चूर होकर चट्टान के किनारे रह जाती है।

माँ जी मीठा-मीठा नाराज होती बोलीं—देख तो पगली को; यहाँ रसोई में आँच जल रही है और खुद न जाने कहाँ है !"

और माँ ने कमरे के भीतर झाँककर मुझे देखा। क्षण-भर गौर से मुझे देखती रहीं—"कहीं जाना है क्या बहू ?"

अब जाकर मुझे बोध हुआ कि मैंने सिल्क की साड़ी पहिन रखी है। हाथों में कंगन है। और मुझे याद आया कि मैंने अपना मेकअप भी कर रखा है। क्यों ? कहीं जाना है क्या ? नहीं, नहीं; कहीं नहीं जाना है। आँच जल रही है। मुझे रसोई घर में जाना है। और मैं वहाँ से चुपचाप रसोई घर में चली आयी।

मेरे मन में अब कोई ऐसा भाव नहीं था, जिसे लेकर दुख मानूँ अथवा सुख ही मानूँ। चारों ओर से बन्धी लगी—कि गति मर गयी हो और मैं भीतर से स्थिर हो गयी होऊँ। उसी लिबास में रसोई घर की कच्ची जमीन पर आ बैठी और आँटा गूदने लगी।

माँ जी मेरे पीछे-पीछे आकर रसोई के दरवाजे पर आ खड़ी हुई थीं। उन्होंने धीरे से पूछा—"क्या बात है बहू ?"

"कुछ तो नहीं माँ !"

"कुछ तो जरूर है।"

और उस कुछ के विषय में मैं क्या बोलती ?

माँ ने पूछा—"कुमार कुछ बोला है ?"

"नहीं।"

और फिर माँ जी ने आगे कुछ नहीं पूछा। चुपचाप वहीं खड़ी रहीं। बाद को वहाँ से चली गयीं।

मैंने नाश्ता तैयार किया और बाहर बाबू जी के लिए भेजवा दिया। फिर दो प्लेटें सजाकर भैया और पति के लिए कमरे में ले आयी। दोनों कुछ बात कर रहे थे। मेरे आते ही चुप हो गये। भैया क्षण-भर मेरी ओर देखते रहे और फिर प्लेट अपने आगे रख लिया। पति मुँह पर अखबार डाले कुछ सोच रहे थे। उन्हें शायद मेरे आने का पता नहीं था। भैया ने टोका—"कुमार, नाश्ता है।"

उन्होंने चेहरे पर से अखबार हटाया। मेरी ओर देखा और प्लेट चुपचाप अपने आगे सरका लिया।

बाहर बैठक से माँ की आवाज आयी—"अरे कुमार!—बहू!"

मैं उन दोनों आदमियों को वहीं छोड़कर बाहर आयी। देखा, राजन है। उसका सारा लिबास भींगा है और वह झुका अपना सामान बाँध रहा है। माँ जी ने दोनों हाथों से सामान रोकते हुए कहा—"तू मत जा राजन!"

राजन ने शीघ्रता से कहा—"नहीं मासी, जाना ही है।"

माँ जी ने राजन का हाथ थामकर उसका सिर छूआ—"तुझे बुखार है। आँखें चढ़ी हैं। ऐसे में तू कैसे जायगा, बोल!"

राजन ने कुछ कहा नहीं। माँ जी के हाथों से अपना हाथ छुड़ाकर हैंगर सहित कोट उतारा और पैंट के साथ ही ट्रंक में डाल दिया।

माँ जी ने तब बहुत ही मार्मिक स्वर में कहा—"तू मेरी बात भी नहीं मानेगा?"

तब राजन माँ जी को विवश भाव से देखता रहा—"नहीं मासी, आज नहीं।"

माँ जी ने पुकारा—"कुमार!"

मैं चौखट के सहारे टिकी थी और चुपचाप सब देख रही थी। माँ जी की नजर मुझ पर पड़ी। माँ जी ने कहा—"कुमार नहीं है

क्या ? इसे जोरों का बुखार है और अभी जाने पर तुला है। न जाने रात-भर कहाँ भीगता रहा है और यहाँ आया है, तो सामान बांध रहा है।"

मैं चुपचाप सब कुछ सुनती रही। एक बार राजन ने मेरी ओर देखा। उसकी आँखें लाल थीं। चेहरा लाल था। और वह कलवाले कपड़ों में ही भींगा खड़ा था। पति बैठक में आकर खड़े हो गये। कुछ बोले नहीं। माँ जी ने कहा—"कुमार, तू राजन को रोक ले!"

राजन ने संक्षिप्त स्वर में कहा—"नहीं मुझे जाना ही है।"

पति राजन की ओर ऐसे देख रहे थे कि कुछ नहीं देख रहे हों—कुछ नहीं सुन रहे हों। इसलिए कुछ बोले भी नहीं।

भैया मेरे बराबर आकर खड़े हो गये थे। बोले—"जब वह जिद ही ठान बैठा है, तो जाने दो माँ!"

माँ जी ने भैया की ओर देखकर कहा—"कैसे जाने दूँ भैया ? इसे बुखार है। देह तवा-सी जल रही है।" और तब माँ ने राजन का हाथ पकड़कर खींचते हुए कहा—"चल, भीतर चल!"

राजन ने हठ के स्वर में कहा—"नहीं—"

"नहीं क्यों ?"

"मुझे जाने दो माँ!"

माँ का स्वर बहुत करुण हो आया—"इसलिए जाने दूँ कि तेरी माँ नहीं है ? इसलिए जाने दूँ कि मैं मर चुकी हूँ ? बोल!" और माँ जी राजन का हाथ पकड़कर खींचती भीतर ले आयीं।

हम तीनों उसी प्रकार बुत बने खड़े रहे। इस बीच माँ जी कई बार आयीं और राजन के कपड़े, बिछावन आदि ले गयीं।

तब मैं रसोई में आ बैठी। माँ ने कहा—'राजन के लिए पानी गरम करना है।' मैंने पानी गरम कर दिया। 'दूध गरम करना है।' मैंने दूध गरम कर दिया। और फिर चुपचाप रसोई के कामों में लगी

रही। उस दिन न जाने कैसे दाल में नमक डालना भूल गयी। माँ ने आकर टोका—'बहू, तरकारी जल रही है।' तो मैंने अपने घुटनों के बीच से सिर उठाकर देखा कि तरकारी जल चुकी थी।

साँझ में भैया ने बुलाकर पूछा—"नीरू, तू घर चलेगी?"

मैंने स्वीकार कर लिया—"चलूँगी।"

और जब चलने की आज्ञा माँ जी से ली गयी, तो माँ ने भैया से पूछा—"भैया, तेरा राजन से कोई दुश्मनी है?"

भैया ने स्थिर भाव से कहा—"नहीं।"

"तो तू बहिन को लिये जा रहा है? यहाँ मैं अकेली कैसे करूँगी? उस बीमार को देखूँगी या रसोई बनाऊँगी!" और माँ जी ने हँसते हुए मुझसे पूछा—"क्या बहू, तू चार दिनों बाद नहीं जा सकती?"

मैं सिर झुकाये चुपचाप खड़ी रही। उस घड़ी मैं अपनी स्वतः की होकर कुछ नहीं थी। अपनी ओर से कहने के लिए कुछ नहीं था मेरे पास।

भैया चले गये।

○

: ६ :

राजन का बिछावन मेरे सामने वाले कमरे में लगा था। साँझ में उसका बुखार बहुत बढ़ गया और वह बेहोशी में भूली बातें करने लगा। पति चिन्तित थे। सब से ज्यादा चिन्ता माँ जी को थी। वह बेचैन लग रही थीं। डाक्टर आया। दवा देकर चला गया। कह गया कि चिन्ता की कोई बात नहीं। लेकिन उससे माँ जी की चिन्ता कभी नहीं। वह बराबर उसके सिरहाने बैठी रहीं। इस बीच बाबू जी भी कई बार आये और हाल चाल पूछा।

रात में जब पति कुछ आवश्यक पत्र लिखकर मेरे कमरे से बाहर निकले, तो मैंने पूछा—"आज कहाँ सोइएगा ?"

उन्होंने मेरी आँखों में देखकर पूछा—"क्यों ?"

"यों ही पूछती हूँ।"

"जहाँ रोज सोता हूँ।"

"यहाँ, इस कमरे में आज नहीं सो सकते आप ?"

एक क्षण रुककर वह बोले—"क्या बात है ?"

"कुछ कहना था।"

वह मुस्कुराये—"क्या कहना है कि रात-भर अपने कमरे में कैद रखोगी ?"

एक अव्याहत व्रीड़ा से मेरा सिर आनत हो आया। वह बिना कुछ आगे बोले चले गये।

आधी रात तक मैं आराम कुर्सी में लेटी, अपने सामने किताब खोले बैठी रही। पढ़ने के नाम पर एक पन्ना भी पढ़ी होऊँ, वैसा कुछ याद नहीं है। अक्षरों पर आँखें दौड़तीं, और जब अनुच्छेद खतम हो जाता, तो मन की पकड़ में कुछ नहीं रह जाता। और मन भागता लगता, किताब से दूर—किताब के पार—इधर-उधर। एक ठौर होकर कुछ सोचने में नहीं आता। सामने के कमरे से बीच-बीच में राजन का स्वर सुनाई पड़ता। उसका बुखार कमा नहीं था।

एक बार माँ जी ने कहा—"बहू, जरा राजन के कमरे में जाकर बैठ। मैं आध घड़ी को कमर सीधी कर लूँ।"

मैंने बातें सुन-भर लीं। लेकिन कुछ निश्चय नहीं कर सकी। फिर भूल गयी कि माँ जी कुछ कह गयी हैं। और धीरे-धीरे मेरी आँखें लग गयीं।

न जाने कैसी आवाज सुनकर मैं जागी। शायद किसी ने मेरा नाम लेकर पुकारा था। देखा, सामने पति खड़े हैं। पूछ रहे थे—"इस तरह मेरी प्रतीक्षा की जा रही है क्या?"

मैंने आँखें उठा उनकी ओर देखा।

वह पलंग पर थके-जैसे लेटकर बोले—"राजन का बुखार कम नहीं रहा है।"

एकाएक मुझे स्मरण आया कि माँ जी मुझे क्या कह गयी थीं। मैंने उनसे पूछा—"आप अभी कहाँ से आ रहे हैं?"

"राजन के कमरे से।"

"वहाँ कोई नहीं है?"

"माँ है।"

मैं आश्वस्त होती चुप रह गयी।

उन्होंने कहा—"माँ राजन को बहुत प्यार करती है।"

मैं किसी के विषय में कुछ नहीं सुनना चाहती थी। सो शून्य भाव से उनकी ओर देखती रही। कुछ देर के बाद वह बोले—"माँ की एक सखी थी; राजन उसी का लड़का है। राजन की माँ मर चुकी है। पिता भी नहीं रहे। वह धन तो बहुत छोड़ गये थे; लेकिन यह राजन—"

उस दिन न जाने क्यों मेरे भीतर की उत्कण्ठा मर चुकी थी। उनके शब्द मेरे कानों के पास आ-आकर गिरते रहे और मैं तटस्थ भाव से बैठी किताब में नजर गाड़े रही।

फिर मिनट-पर-मिनट गुजरने लगे। वातावरण की शान्ति नीरवता में बदलने लगी। वह चुप थे। मैं चुप थी। लेकिन वह चुप्पी अब लगी कि छाती पर पत्थर बनकर पड़ी है। मैंने आँखें उठाकर उनकी ओर देखा। वह चुपचाप इकटक मेरी आकृति पर ही नजर गड़ाये देख रहे थे।

मैंने कातर भाव से कहा—"इस कमरे में आकर आप ऐसे चुप क्यों हो जाते हैं?"

वह बोले कुछ नहीं। अपने को तकिया के सहारे ढीला छोड़ दिया और मेरे पाँवों के पास जमीन की ओर देखते रहे।

अब मुझे बोलना कठिन लगा। वह मेरे सम्पूर्ण अस्तित्व को एक चुप्पी में बान्धकर पड़े थे। ऐसे में कुछ क्या पूछा जाता? अपने भीतर से बन्धी, रुकी मैं अपने सामने उसी प्रकार किताब खोले बैठी रही। फिर अचानक लगा कि मन के भीतर अत्यन्त ही सूक्ष्म भाव से कुछ पिघल रहा है और पिघल-पिघलकर आँसू बन रहा है।

"नीरू!"

मैंने देखा, पति मेरी ओर ही स्थिर दृष्टि बांधे देख रहे थे। कई क्षणों तक और देखते रहे। ऐसे देखते रहे कि जो कुछ कहने के

लिए सोच रखा था, अब कहना नहीं चाह रहे हों। फिर बोले—
"नीरू, तुम मेरा अस्तित्व अस्वीकार कर नहीं चल सकती ?"

मैं उनकी बात समझी नहीं। इसलिए चुप उनकी ओर देखती रही।

उन्होंने कहा—"मैं पति तो हूँ, लेकिन पति मानकर ही प्रत्येक क़दम उठाया जाय, क्या यह अत्यन्त आवश्यक है ?"

"है।"

"गलत नहीं है ?"

"नहीं।....मेरे लिए नहीं।"

और वह चुप हो गये।

मैं अधीर होकर बोली—"मुझसे क्या कहलवाना चाहते हैं, बोलिए ! आप जो कुछ हैं, उसे न मानकर चलूँ, तो क्या मान-कर चलूँ ?"

"कुछ नहीं मानकर चलो ! ऐसे चलो कि बस, चलना है।"

"लेकिन नारी वैसे कभी चली है ? उसे किसी को मानकर चलना पड़ता है—आधार लेकर चलना पड़ता है। वह नहीं मानकर चलेगी, तो रास्ते में ही टूटकर बिखर जायगी।" मैंने कहा।

वह बोले—"लेकिन तुम मुझसे अपने को घेरकर चलती हो, तो न जाने क्यों मैं बेचैन हो उठता हूँ। लगता है कि कहीं अन्याय हो रहा है, कहीं जबर्दस्ती हो रही है।"

मैं अधिक सम्वेदनशील हो उठी—"मुझे क्या करने को कहते हैं आप ?"

"यही नहीं जानता नीरू, कि तुम क्या करो। लेकिन कुछ ऐसा करो कि सब टूट जाय, सब खतम हो जाय। तुम बन्धकर नहीं रहो।"

मैंने पूछा—"आप क्या समझते हैं कि मैं बन्धकर रहती हूँ ?"

"रहती ही हो।"

"कैसे समझते हैं ?"

"समझता नहीं हूँ, देखता हूँ—रोज देखता हूँ। कॉलेज के दिनों में भी देखा है, अब भी देखता हूँ। पहले खुली थी और हँसती रहती थी। अब बँधी हो, और रोती रहती हो। नित्य अपने को मिटाने की चेष्टा में लगी हो। न जाने कैसा बन्धन अपने चारों ओर मान बैठी हो। इसलिए कहता हूँ कि कुछ मत मानो। सब तोड़ दो और चलो !" इस समय वह बहुत भावुक हो रहे थे।

मैं विगलित कण्ठ से बोली—"मुझसे सब बन्धन तुड़वाकर क्या आप दूर हो जाना चाहते हैं ? आपको पति मानकर चलूँ, यह अधिकार भी नहीं देना चाहते ?"

"नीरू...!"

"नीरू कहकर बात न टालिए। इधर देखती हूँ कि आप मुझसे अपने को घिरा हुआ पाते हैं। मेरे पास आकर आपकी साँस घुटने लगती है। क्या यह सच नहीं है ?"

वह मेरी आँखों में नहीं देख सके। धीरे से आँखें बन्द कर लीं।

मैंने कहा—"मैं आपके सुख में अपना सुख मानूँ, क्या यह भी आप नहीं चाहते ?"

वह उसी प्रकार लेटे रहे। कुछ बोले नहीं। फिर न जाने कब उन्हें नींद आ गयी।....

सात दिनों तक मैं उस घर में रहकर भी ऐसे रही, जैसे कि उस घर से निर्वासित होऊँ। किसी काम में मन नहीं लगता और जी उखड़ा रहता। अपने कमरे में बन्द रहकर अपने को कैद किये रहती। लगता कि मेरे भीतर का सारा अस्तित्व मिट गया है। आत्मा छिन

गयी है। अतः बाहर-बाहर गति भी बन्धी लगती। राजन का बुखार उतर चुका था। धीरे-धीरे वह स्वस्थ हो रहा था।

उस दिन दोपहर में लेटी थी कि दो-तीन लड़कियाँ दरवाजा ढकेलकर भीतर चली आयीं। बाद में मालूम हुआ कि वे सब स्थानीय कॉलेज की छात्राएँ थीं। उनके यहाँ साहित्य-परिषद का वार्षिक जल्सा था। जल्से में बहुत लोग आ रहे थे। कुमार जी ही उद्घाटन करेंगे। इसलिए एक लड़की, जो ज्यादा प्रगल्भ दीख रही थी, बोली—"आपका चलना भी जरूरी है।"

मेरा आकर्षण न साहित्य-परिषद की ओर था और न उसके जल्से की ओर। भीड़-भार में मैं जाना नहीं चाह रही थी। कभी जल्से में शरीक नहीं हुई थी, वैसी बात न थी। कॉलेज के दिनों में साहित्य-परिषद और कवि-गोष्ठियों का संचालन करती थी। भीड़-भार का इन्तजाम खुद करती थी और लोगों के बीच खड़ी होकर कुछ बोलने में अथवा पढ़ने में गर्व अनुभव करती थी। लेकिन उस दिन साहित्य-परिषद की बातें सुनकर बहुत-सी नयी-पुरानी बातें हरी हो उठीं। अन्यमनस्क होकर मैंने कहा—"मेरा चलना कोई जरूरी तो नहीं है?"

लड़की मुस्कुराकर बोली—"जरूरी है या नहीं, यह मैं जानती हूँ।"

"लेकिन वहाँ जाकर मैं क्या करूँगी? वहाँ तो साहित्य-सेवियों को ले जाइए! मुझसे तो घर की सेवा भी पार नहीं लगती। बाहर जाकर क्या करूँगी?"

लड़कियाँ चुपचाप मेरी ओर देखती रहीं। बेचारी नादान बच्चियाँ! वे आगे कुछ बोल न सकीं। मैंने धीरे से कहा—"जब तुम सबों की शादियाँ हो जायँगी, तो समझोगी कि नारियों के लिए बाहर

का विस्तृत संसार शायद ज्यादा संकुचित है। वह घर के लिए ही बनी है। उसी के विस्तार में वह अपने को अँटा ले, यही ठीक है।"

वे लड़कियाँ बहुत देर तक चुपचाप बैठी रहीं। फिर जब जाने लगीं, तो एक ने कहा--"रात में हम अवेंगी, आप तैयार रहिएगा, आठ बजे।"

मैंने कुछ जवाब नहीं दिया। उन्हें बिदाकर चुपचाप आ लेटी।

और कल होकर रात में सुषमा नाम की वह लड़की आ ही गयी। किसी सब-जज की लड़की थी। अपनी कार से आयी थी। पति मेरे कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। कार की आवाज सुनकर उन्होंने मुझे पुकारा। मैंने उपस्थित होकर पूछा--"क्या है?"

उन्होंने किताब पर नजर गाड़े ही पूछा—"सुषमा ने तुम से कुछ कहा था?"

"कहा था।"

"चलोगी?"

"चलना क्या अच्छा होगा?"

"अच्छा होगा या बुरा होगा, यह मैंने नहीं सोचा था। तुम्हारे लिए सुषमा ने मुझसे आज्ञा मांगी थी। मैंने 'हाँ' कह दिया।"

मैंने निपंग भाव से कहा—"तो चलूँगी।"

पति के स्वर में तितिक्षा स्पष्ट हो उठी—"नहीं चाहती हो, तो मेरी आज्ञा मानकर ही वहाँ जाना जरूरी नहीं है।"

"—तो नहीं जाऊँगी।"

उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा और कहा—"ठीक है।"

लेकिन उस 'ठीक है' के पीछे कहाँ क्या ठीक है, उस वाणी से कुछ निकाल नहीं सकी।

सुषमा अन्दर आ गयी थी। उसके नमस्कार का जवाब देते हुए पति उठ गये। बोले--"चलो, मैं तैयार हूँ।"

सुषमा ने मेरी ओर देखा—"और आप ?"

मेरी ओर से पति ने ही जवाब दिया—"वह नहीं जायँगी ।" स्वर रूखा था ।

सुषमा संभ्रम में खड़ी-खड़ी बोली—"क्यों ?"

पति जरा कठिन होकर बोले—"सब 'क्यों' का जवाब क्या होता ही है सुषमा !"

मैं भीतर से कटकर रह गयी । यह कैसे आदमी हैं ! पहले तो कुछ कहा नहीं और अब मन में क्रोध दबाकर बोल रहे हैं । क्या वह अधिकार-पूर्वक नहीं कह सकते थे कि नीरू, तैयार हो जाओ, चलना है । अब तीसरे के सामने ऐसे बोल रहे हैं कि जैसे कुछ झगड़ा हो गया हो । और ठीक उसी तरह झगड़े का भाव लेकर मैं भीतर से भरी चुपचाप खड़ी रही ।

पति ने कहा (सुषमा से कहा)—"चलो !"

और जब वे चलने लगे, तो मैं एकाएक तिक्त कण्ठ से बोली—"क्या मेरा चलना अच्छा नहीं है ?"

मेरे अस्वाभाविक स्वर से चौंककर पति ने एक बार मेरी ओर देखा । रुके नहीं । सीधे चलते बाहर चले गये । सुषमा ठिठककर चुपचाप मेरी ओर देखती रही । फिर बोली—"आप तैयार हो लीजिए !"

मैं तैयार होकर चलने को हुई, तो माँ जी ने आकर कहा—"आज जन्माष्टमी है । मुझे मन्दिर जाना है ।"

"लेकिन मैं तो बाहर जा रही हूँ ।"

"कहाँ ?"

"मैं नहीं जानती ।"

माँ जी को सहसा हँसी आ गयी । सुषमा की ओर देखती हुई

बोली—"जा-जा ! लेकिन जल्दी चला आना। कुमार भी जा रहा है!" माँ जी भीतर से बहुत गद्‌गद होकर बोल रही थीं।

बैठक पार करने लगी, तो सुषमा ने पूछा—"कुछ बात हो गयी है क्या?"

"नहीं।" मैं ऐसे बोली कि सुषमा आगे कुछ पूछ नहीं सकी।

रास्ते में कोई कुछ नहीं बोला।

वहाँ परिषद की ओर से अच्छी तैयारी थी। 'कुमार' जी की आगवानी के लिए कुछ लोग खड़े थे। ज्यादा उनमें औरतें थीं और लड़कियाँ थीं। कार से नीचे उतरते समय पति ने सम्मान-पूर्वक मेरा हाथ थाम लिया। फिर उनके गले में कई तरह की बहुत-सी मालाएँ पड़ीं। उस घड़ी उन्हें देखकर मैं अपने भीतर गर्व से बहुत विस्तृत हो आयी! लगा कि अभी थोड़ी देर पहले मैं जो कुछ थी, अब नहीं हूँ। घर का दायरा यहाँ नहीं था। मुक्त आकाश के नीचे मैं मुक्त थी। और उस मुक्तता में मैं एक कलाकार की पत्नी थी, जिसके सम्मान में यह सब आयोजन किया गया था, जिसके गले में पच्चीसों मालाएँ पड़ी थीं। उस एक क्षण को इच्छा हुई कि अपने हाथ में पकड़े उनके हाथ सदा इसी तरह पड़े रहें और मैं उस हाथ का सहारा लेकर आग-पानी सब कुछ लाँघती चलती चली जाऊँ। उस एक क्षण का आकर्षण अत्यन्त ही सम्मोहक था। एकान्त होता तो मैं उनके चरणों में अवश्य लोट जाती।

वह मंच पर चले गये। मैं प्रिंसिपल के साथ आ बैठी। और तब वहाँ बैठे सभी आदमियों की नजरें एक साथ ही मुझपर आ लगीं। मैं उन तमाम आँखों को पहचानती लगी। सभी आँखों में एक ही दृष्टि थी। और उस एक दृष्टि का यही भाव था कि वह औरत कितनी खुश-किस्मत है, जिसके 'कुमार' जी जैसा पति मिला है! और उस मन्मय भाव से अपने को चारों ओर से घेरकर मैं अधिक ऊँचा अधिक

ऊपर उठ आयी और मुग्ध मोहित सारा समय पति की ओर देखती रही कि उस आदमी को निकट से पहचान लूँ कि वह मेरा—अकेले मेरे का पति है और अपना है।

जल्सा खतम हुआ, तो वह मुझसे मिले। अपनी गरदन की मालाओं के बोझ को उतारकर उन्होंने जो अपने हाथों में ले रखा था, उसे मेरी गरदन में डाल दिया। वहाँ प्रिंसिपल थी, सुषमा थी। मैं भीतर से संकुचित हो आयी। उस समय जी यही चाह रहा था कि अभी एकान्त होता—एकदम एकान्त होता, कि वह होते और मैं होती !

पति ने सुषमा से कहा—"इन्हें घर पहुँचा दो !"

मैंने उनकी आँखों में देखा। पूछना चाह रही थी—'और आप ?'

वह बहुत मादक ढंग से मुस्कुराए—"मैं थोड़ी देर बाद आ जाऊँगा।"

और उस मुस्कुराहट को अपने मन में बाँधे मैं घर तक चली आयी। सुषमा को विदाकर मैंने दरवाजे पर दस्तक दी। फिर जोर से जंजीर बजायी। मालाओं का बोझ गले से उतार कर मैंने हाथ में ले लिया था। उस अन्धेरे में खड़ी-खड़ी मैं माला के फूलों के कोमल स्पर्श का अनुभव करती रही। फिर सभी मालाएँ एक साथ गरदन में डाल लीं।

राजन ने दरवाजा खोला। भीतर का प्रकाश मेरी आकृति पर पड़ा, तो वह मुझे इकटक देखता रह गया। वह अब भी कमजोर था। आकृति पर पीलापन था। एक गहरी नजर से उसे देखकर मैंने दरवाजा बन्द कर लिया। वह तब भी मेरी ओर देख रहा था। उसकी आँखें दीपक की पीली लौ की तरह जरा चमकी। उसने मुस्कुराकर कहा—"क्या बात है कि आज बहुत खिल रही हो ?"

मैंने उसकी बातों का बुरा नहीं माना। उस क्षण कुछ बुरा नहीं लग रहा था। भीतर की हँसी बाहर ओठों पर बिछल आयी। मैंने आँखों को नचाकर पूछा—"मैं बहुत खिल रही हूँ ? यही तुम अभी देख रहे थे ?"

उसने मेरे कन्धे को थाम लिया और मेरा सहारा लेकर चलने लगा। मैंने कोई विरोध नहीं किया। पूछा—"माँ जी नहीं हैं ?"

"नहीं, वह मन्दिर से नहीं लौटी है।"

राजन मेरे कन्धे के सहारे ही अपने कमरे तक आया। पलंग पर बैठते हुए कहा—"बैठो !"

मैं चुपचाप बैठकर उसकी ओर देखने लगी। उसने हँसकर कहा—"आज तो फूलों से लदी हो।"

"तुम्हें यह अच्छा नहीं लगता ?"

"लगता है—" और बीच में ही वह बहुत उदास हो आया। उसकी आकृति पर का पीलापन और गाढ़ा हो गया।

मैंने यों ही कहा—"तुम बहुत दुर्बल हो गये हो।"

उसने कहा कुछ नहीं। सिर्फ एक बार खिन्न मुस्कुराकर रह गया।

बहुत देर के बाद उसने पूछा—"कहाँ गयी थी ?"

"एक जल्से में।"

"पाँच वर्षों तक कुमार को घर में देखकर अब यह देखने गयी थी कि वह बाहर कैसा है ?"

मैं कुछ बोली नहीं। भीतर से गद्गद् होकर मुस्कुरा उठी और सिर्फ सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया कि हाँ।

"बहुत अद्भुत लगा ?"

मैंने उसी तरह सिर हिलाया कि हाँ।

और तब एकाएक मेरे मन को पकड़कर एक बात बैठ गयी कि अपने इस पति को मैं पिछले पाँच साल से तो देख रही हूँ। आज

भी देखा है। बाहर में वह कितने अपने हैं! लेकिन इस घर में आकर उनका बाहर वाला सब कुछ मर क्यों जाता है?

इस बीच राजन पलंग पर लेट गया था और फैल आया था, कि बहुत विस्तृत हो जाय और अपने को चारों ओर फैला दे। कुछ क्षणों तक वह छत की ओर ताकता रहा। मेरा हाथ उसके बिस्तरे पर पड़ा था। मेरी उँगलियों के पोरों को उसने धीरे से छूआ। कई क्षणों तक वह उसी प्रकार छूता रहा। फिर मेरी उँगलियों में अपनी उँगलियाँ फँसाकर दबाया—जोर से दबाया। मैंने प्रतिरोध तो न किया, लेकिन मेरी दृष्टि उसकी आकृति पर जम गयी। वह मेरी ओर ही देख रहा था। उसकी दृष्टि मुझे ही घेर कर अँटकी थी और निष्पलक बनी थी।

राजन के उस दृष्टि-पथ का अनुसरण कर मैंने देखा कि मेरी गरदन की माला मेरी छाती पर कुंडली मार कर पड़ी थी और मेरे ब्लाउज का ऊपर का बटन खुला था। एक क्षण के लिए मुझमें सम्बोध जागा। बहुत भीतर से व्रीड़ा का एक भाव उठा। मैंने आँचल जरा सम्हाल लिया और पूछा—"क्या देख रहे हो?"

वह कुछ बोला नहीं। मेरी उँगलियों के पोरों को जोर से मसल दिया। मेरे मुँह से हलकी 'इस्स्' निकल गयी। वह तब जरा मुस्कुराया और मेरे हाथों को खींच कर अपनी छाती पर रख लिया।

मैंने विरोध नहीं किया। लेकिन मेरे भीतर में भी विरोध नहीं था, वह एकदम से मिट गया था, वैसी बात नहीं थी। जी चाहता था कि उसके हाथों में से अपना हाथ जोरों से झटक लूँ और वहाँ से हट जाऊँ। लेकिन मन की बात बहुत भीतर ही तल में बैठी रही। और मैं भी उसी तरह अवश पलंग की पाटी पर टिकी रही।

मैं और वह दोनों चुप थे। जैसे अब बातें नहीं रह गयी हों। लेकिन बातों को तो होना ही चाहिए। बाहर बातें नहीं होंगी, तो

भीतर बहुत कुछ बनेगा और बिगड़ेगा और उसके पीछे मन भटकता रहेगा। लेकिन मन को भटकाना नहीं है। मैंने पूछा—"तुम अब क्या चाहते हो राजन !"

"मैं—?"

"हाँ, तुम—"

"मैं क्या चाहूँगा ?" और वह छत में कहीं दूर देखने लगा। दो क्षण के बाद बोला—"जो चाहा जाता है, वह क्या होता है नीरू ? और नहीं चाहा हुआ ही क्या होता है ? होता वह है कि जिसका होना अनिवार्य है। चाहना के लिए वह नहीं रुकता। आँधी आती है, किसी का वर्जन नहीं मानती, और गुजर जाती है। उसी तरह से वह अनचाहा, अनजाना भविष्य के गर्भ से आता है और हम पर गुजर कर भूत बन जाता है। मैंने बहुत कुछ चाहा। लेकिन कुछ कहाँ मिला ? सभी मुझे छोड़कर तोड़कर निकल गये। इसलिए अब चाहने की बात नहीं उठती।"

वह चुप हो गया और उसकी आँखें छत में लगी रहीं। तब उसने अपनी छाती पर पड़े मेरे हाथ की कलाई में पड़ी चूड़ियों को कई बार छूआ और घुमाया। और तब जैसे कहीं दूर से लौट आकर बोला—"तुमको भी तो मैंने चाहा था ?—चाहा था कि नहीं ?"

मैंने छीनकर अपना हाथ उसकी छाती पर से हटा लिया और उठ आयी। जी में न जाने कैसा एक तीखा भाव जागा। लेकिन बाद को लगा कि वह बाहर-भीतर कहीं भी तीखा नहीं है। और अपने में ही अँटकी पलंग के पास खड़ी रही।

राजन ने पूछा—"बातें अच्छी नहीं लगीं ?"

मेरे मुँह से हठात् निकला—"नहीं।"

तब उसने आँखें बन्द कर लीं और बन्द ही रखीं। मैं उसी तरह खड़ी रही। कुछ देर के बाद उसने आँखें खोलीं मुझे देखा—गौर से देखता रहा—"गयी नहीं ?"

मैं उसी तरह चुप खड़ी रही।

"जाओ, अब...."

न मैं वहाँ से हटी और न कुछ कहा ही।

"जाओ न !" जैसे उसने बहुत अधिकार का बोझ देकर डाँटा।

तब मुझे बरवस हँसी आ गयी। यह राजन किस अधिकार का बल लेकर मुझे डाँटता है? घर तो मेरा है और मुझी पर शासन चलाने का अधिकार क्या उसका अब भी है? मैं तो अब पति की हूँ। पति....पति ने अपने विस्तार को, अपने अधिकार को बहुत सीमित कर अपने में ही संयत कर लिया है। वहाँ शासन नहीं है। वहाँ सब कुछ स्वीकार बनकर ही है। और यह राजन—राजन हठ करता है। जिद करता है और शासन चलाना चाहता है। मुझपर उसने बहुत शासन किया है। उसके एक-एक हठ को मैं वरण करती रही हूँ। आज उन सबों का संबल जुटाकर वह मुझे डाँट रहा है।

मेरे भीतर न जाने कहाँ का रुका कुछ पिघल उठा। मैंने धीरे से कहा—"नाराज हो गये ?"

"नाराज-वराज नहीं,....जाओ !"

"अच्छा, चली जाऊँगी।"

और मैं गयी नहीं। कुर्सी खींचकर पलंग के पास बैठ गयी। एक बार राजन ने तीखी नजरों से मेरी ओर देखा और दीवार की ओर करवट बदल ली।

मेरा भीतर भरा-उभरा-सा लगा। लगा कि मैं बहुत सूक्ष्म हो गयी हूँ और हवा के ऊपर तैर उठूँगी। दोनों हाथों से उसके सिर को अपनी ओर घुमाया और उसकी आँखों में आँखें डालकर पूछा—"सोना चाहते हो ?"

वह उसी तरह भरा हुआ बोला—"हाँ, सोना चाहता हूँ। जाओ,—तंग न करो!"

"तंग नहीं करूँगी। अब जी कैसा रहता है?"

"बहुत अच्छा!"

"नाराज होकर नहीं बोलो!"

इस बार राजन अधिक नाराज होकर बोला—"मेरी तबियत की बात पूछने वाली तुम कौन होती हो?"

मैं अपने भीतर बहुत व्यथित हो उठी—"कोई तो नहीं—"

"—तो जाओ! मुझे किसी की कृपा की जरूरत नहीं है। मैं अकेले मर लूँगा।" और उसने फिर करवट बदल ली। दीवार की ओर ही मुँह किये उसने बोलना शुरू किया—"हुजूर की आज नींद टूटी है। मर ही गया होता, तो क्या होता किसी का?"

मैंने टोका—"तुम यह सब किससे कह रहे हो राजन? मुझसे?—नीरू से? लेकिन तुम यह क्यों नहीं सोचते कि मैं अब नीरू नहीं हूँ। पत्नी हूँ और किसी के पतित्व का भार ढो रही हूँ, यह क्या तुम्हें बार-बार समझाना होगा? मैं तुम्हारे पास नहीं आती थी, उसमें क्या मेरी मजबूरी नहीं थी?"

उसी प्रकार गुस्से के स्वर में राजन बोला—"नहीं।"

"नहीं?....कैसे—?"

"तुम चाहती, तो आ सकती थी।"

"चाहकर ही क्या सब कुछ संभव हो जाता है?"

फिर कोई कुछ नहीं बोला। और बाहर का वातावरण भीतर अन्तर में उतर गया। वहाँ व्यतीत की बहुत-सी चीजें आकर अँटकीं और गुजर गयीं।

तब मैंने पूछा—"तुम्हारा यहाँ अँटका रहना क्या जरूरी है राजन?"

"नही, कोई जरूरी नहीं है।" और वह एकाएक पलंग से उठ आकर नीचे उतर गया। आलमारी खोली। पैंट निकाला। और भी धुले नये कपड़े निकाले। मैं झपटकर उसके पास गयी और उसके हाथ से पैंट छीनती हुई बोली—"तुम प्रत्येक बात का बुरा क्यों मान जाते हो?"

मुझे घेरकर मुझ से पैंट छीनने की चेष्टा में वह बोला—"दे दो नीरू! मेरा यहाँ रहना नहीं, जाना जरूरी है।"

मैं उसे बाँहों से लेकर पलंग तक ले आयी। वह अधिक क्षुण्ण बोला—"मैं तो उसी दिन चला जा रहा था, तुम्हीं लोगों ने रोका—होकर क्यों रोका?"

मैंने उसे बरबस पलंग पर लिटा दिया। कहा—"जानती हूँ, तुम यहाँ नहीं रहोगे। लेकिन हर बात में जल्दी क्या ठीक होती है? हर-वक्त इस तरह लड़ने के लिए तैयार क्यों रहते हो?"

तभी दरवाजे पर दस्तक पड़ी।

मैंने राजन की आँखों में देखकर पूछा—"इजाजत है?" शायद मेरे कटाक्ष में दुलार की मधुरिमा थी।

राजन तुनक उठा—"कैसी इजाजत?"

"जाने की—"

"क्या फालतू बकती हो?"

"देखो मन में क्रोध न पालो, चुपचाप सो जाओ।"

मैं दरवाजे की ओर चली।....

बाहर कुछ बूँदा-बाँदी हो रही थी। पति थे। माँ थीं। दोनों भीग चुके थे। दरवाजा खुलने पर पति ने एक नजर मेरी ओर देखा, और

जैसे कुछ नहीं देखा हो, वैसे ही बनकर आगे बढ़ गये। लेकिन उस एक क्षण के लिए जो नजर मुझ पर आकर टिकी थी, उसकी दृष्टि ऐसी थी, जो कुछ नहीं देखती है, लेकिन सब कुछ देखती है। देखती है और बस ऐसी बन रहती है कि देखने के लायक कुछ नहीं है। सब है, सो देखा है।

मुझे लगा कि उस दृष्टि ने कुछ खोजा और पा लिया और पाकर फिर लौट गयी। मैं पति के पीछे-पीछे चलती कमरे में आयी। कमरे में आकर वह खड़े हो गये। ऐसे खड़े हो गये कि एकाएक भूल से कमरे में चले आये हों और उस चले आने की बात लेकर सोच में पड़ गये हों। फिर नजरें उठाकर मेरी ओर देखा और देखते रहे।

उस स्थिति से उबरने के लिए मैंने पूछा। पूछा नहीं। पूछना तो तब कहते हैं, जब जवाब जानने की उत्सुकता हो। मुझे जानना कुछ नहीं था। अपने ऊपर से उस वातावरण को ठेलकर अलग उबर आना था। सो बोली—"देर कहाँ हुई?"

वह उसी प्रकार देखते रहे और जरा हँस पड़े।

इस हँसी का कोई किनारा नहीं था और न कोई तल ही था। न मैं उन्हें पकड़ पा सकी और न उनकी हँसी को। तब आगे बढ़ आकर उनके कुरते का बटन खोलने लगी। उन्होंने कोई प्रतिरोध नहीं किया। फिर उनका कुरता उतारा, गंजी उतारी। तौलिया दिया कि देह पोंछ लें। सूखे कपड़े दिये। लेकिन जब लौटकर आयी, तो देखा, वह उसी प्रकार खड़े हैं और तौलिया और धोती जहाँ-की-तहाँ पड़ी है। मैं पूछ बैठी—"कपड़े नहीं बदलेंगे?"

वह तब भी उसी प्रकार खड़े रहे। ओठों पर वही दुर्बोध, दुर्ज्ञेय, दुर्गम्य स्मिति, जैसे एक बार आकर रुकी रही। मैं बोली—"क्या बात है?" और बिना किसी प्रकार के उत्तर की अपेक्षा में टिके अपने

हाथ में तौलिया लिया और उनके बालों को पोछ दिया। देह पोछ दी। और धोती में चुन्नट डालकर आ खड़ी हुई कि पहन लो।

उन्होंने कहा—"तुम्हारा काम खतम हो गया?"

"क्या करूँ? बोलिए!"

"कपड़े भी पहना दो।" और हँस पड़े।

मैं भीतर से धन्य हो आयी और कृतार्थ होकर बोली—"पहना दूँ?"

उनकी आँखों में दृष्टि बहुत गहरी हो आयी। मैं उन आँखों की गहराई में उतरती गयी—उतरती ही गयी। लेकिन वहाँ क्या कोई तल था? सिर्फ गहराई थी—अनन्त गहराई। और तब मैं वहाँ से, अपने से बहुत दूर होती गयी। सामने पति थे, लेकिन तब वह भी न रहे। वह कमरा भी न रहा। चारों ओर उन्मुक्तता रह गयी। और मैं दूर-दूर तक वायव्य में फैलती गयी।

पति ने जब मेरे हाथों से धोती ले ली, तो मैं लौट आयी। अरे! मैं कहाँ चली गयी थी! और अनबूझ दृष्टि से मैंने उनकी ओर देखा। वहाँ अब उन आँखों में गहराई नहीं थी। न जाने कैसी वाणी में वह बोल रहे थे—"तुम तो नीरू, मेरी पत्नी हो न?"

प्रश्न तो सीधा था। लेकिन सीधा होकर भी वह मेरी समझ में किसी प्रकार न उतरा और मैं उसी प्रकार उन्हें देखती रही।

वह मुझसे जैसे स्वीकृति चाहते हों—"हो न?"

"हूँ तो,—लेकिन आप मानते हैं?"

"नहीं मानता हूँ?—"

और जैसे वह बहुत थक आये हों, उसी प्रकार आराम कुर्सी में लेट गये और पाँवों को पलंग पर फैला दिया। सिर को कुर्सी की पीठ के पीछे लटका दिया और आँखें बन्द कर लीं।

ऐसी घड़ी मुझसे झेलना कठिन हो जाता था। मैं पलंग पर बैठ गयी और उनके पाँवों को अपनी गोद में रख लिया और उँगलियों को सहलाने लगी।

बाहर से माँ जी की आवाज आयी—"राजन को दूध दे दिया था बहू ?"

मैंने भीतर से कहा—"नहीं।"

पति ने सिर जरा ऊँचा किया—"नहीं क्यों दिया ?"

मेरे भीतर कहीं कुछ रगड़ खा गया—"क्यों देती ?"

"क्यों देती, यह मैं नहीं जानता। लेकिन वह रोगी है। उसे दूध मिलना चाहिए था।" उनका स्वर गम्भीर था।

"रोज मैं ही तो नहीं देती थी ?" मेरे कहने की वाणी ऐसी थी कि मैं उलाहना दे रही होऊँ, अभियोग रख रही होऊँ। इससे मैं अपने ही भीतर संकुचित हो आयी।

पति फिर उसी तरह अन्तस्थ हो रहे।

उस कमरे के बाहर जो कुछ हो रहा था, उसके आभास से मैंने जान लिया कि माँ जी ने राजन को दूध दे दिया है। बाहर की बत्ती बुझा दी गयी है। और अब माँ जी सोने के लिए चली गयी हैं। राजन....राजन भी अब सो गया होगा। नहीं भी सोया होगा।

तब न जाने एकाएक मेरे भीतर क्या उठा कि मैंने पति के पाँवों को झिंझोड़कर पूछा—"सुनते हैं आप ? क्या बजता होगा अभी ?"

पति कुछ बोले नहीं। सिर्फ अपनी कलाई आगे कर दी, जिसमें घड़ी बँधी थी। मैंने देखा कि कलाई पर बन्धी वह घड़ी अब तक डेढ़ बजा चुकी है। मैं रोप के स्वर में बोली—"जानते हैं, क्या बजता है ?"

"क्या ?"

"डेढ़।"

पति ने जान लिया। जैसे उतना ही यथेष्ट हो। कुछ कहा नहीं। इससे मेरे भीतर झुंझ पैदा हुई—"डेढ़ हो गये और मैं अभी तक जगी हूँ। आपने कुछ पूछा नहीं !"

उन्होंने अपने को आराम कुर्सी में और फैला लिया और सिर को कुर्सी की पीठ के सहारे टिकाकर ऊँचा किया। पूछा—"क्या पूछता ?"

"यही कि अभी तक मैं क्यों जगी हूँ ?"

"देख तो रहा हूँ कि जगी हो। इसके आगे पूछने की क्या गुंजायश है ?"

"गुंजायश नहीं है ? आपको सब कुछ जानना चाहिए कि मैं अब तक सोयी नहीं, तो जगी-जगी क्या कर रही थी ?"

"जब जगी थी, तो सोने के अतिरिक्त और कोई काम जरूर था।"

"लेकिन वह काम कौन था, जिसे लेकर मैं जाग रही थी, यह तो आपको पूछना ही चाहिए।"

इस पर वह चुप हो आये। और मैं नाराज हो आयी—"आपने मुझे कब बजे छोड़ा था ?"

पति नहीं बोले।

"बोलिए न, कब बजे छोड़ा था ?"

वह नहीं बोले।

साढ़े ग्यारह बजे छोड़ा था। इस समय डेढ़ बज रहे हैं। मैं उन्हीं लिबासों में अब तक पड़ी हूँ। सोयी भी नहीं; क्या कर रही थी, यह सब क्या आपको नहीं जानना चाहिए ?"

वह फिर भी नहीं बोले, तो मैं अपने पर वश नहीं पा सकी। भीतर का सब-कुछ एकाएक विद्रोह बनकर बाहर फूट आया। अपनी गोद से उठाकर उनके पाँवों को एक ओर फेंक दिया। गरदन से मालाएँ निकालीं (अब तक आराधना-पूर्वक पहने ही थी) और नोच-नोचकर उन पर दे मारा—"चुप बने बैठे रहो ! कुछ न पूछो ! एक दिन सब-कुछ लुट जायगा। चेत होगा तब, जब पूछने के लिए कुछ नहीं बचेगा।"

और मैं वहाँ से भागकर माँ जी के पलंग पर औंधे मुँह आ गिरी। माँ जी अकचकाकर उठीं—"क्या बात है बहू ?"

और तब मेरे भीतर का सब-कुछ टूट-फूटकर बह निकला और मैं उनकी गोद में मुँह छिपाकर फफक उठी।

माँ जी मेरे सिर को अपनी गोद में लिये अवश चुपचाप बैठी रहीं। समझ न सकीं कि क्या हुआ है इस लड़की को जो रुला रहा है और उसके भीतर को फोड़कर बहता चला आ रहा है। पीड़ा समझ में नहीं आये, तो आदमी क्या कहकर सम्बोधे ? ऐसी ही स्थिति में माँ जी मेरा सिर थपकती रहीं और शब्द खोजती रहीं कि चुप न रहा जाय, कुछ बोला जाय। लेकिन शब्द न मिला। कुछ न मिला, तो बोलीं—"बहू—"

उस एक 'बहू' शब्द की वाणी ऐसी थी कि चुप रहो, नहीं तो तेरा यह दुर्ज्ञेय रुदन मुझे भी रुला देगा। लेकिन मेरा अन्तर जो एक साथ ही पूरे संवेग के साथ बहता चला आ रहा था, वह नहीं रुका। निर्बन्ध, निरवलम्ब बहता ही गया।

तब माँ जी भी स्थिर हो आयीं कि जो फूट आया है, वह बह जाय, तो देही को चैन मिले। लेकिन वह ज्यादा देर तक स्थिर नहीं रह सकीं। अपनी गोद से मेरा सिर हौले हटाकर एक ओर रख दिया और वहाँ से उठ गयीं। उठकर उस कमरे में गयीं, जहाँ पति थे। शायद पति अब भी जहाँ-का-तहाँ उसी प्रकार बैठे थे।

माँ जी ने पूछा—"क्या कहा है उस लड़की को ?"

"किस लड़की को ?"

"घर में दस-बीस लड़कियाँ तो हैं नहीं। एक है, उसे भी इस घर में सुख नहीं है।"

पति का कोई स्वर सुनाई नहीं पड़ा।

माँ जी ही बोलती रहीं—"इस घर में उसे क्या मिला है ? अच्छा खाना, पहनना, कुछ भी तो उसका यहाँ नहीं होता। बाप के घर का सब-कुछ बिसारकर यहाँ आ पड़ी है। उस पर से बात का भी सुख उसे नहीं मिलेगा, तो जी को कष्ट होगा ही।"

पति फिर चुप ही रहे।

माँ जी का ही स्वर आया—"लड़की नेक है। वह कुछ नहीं बोलती। सब कुछ झेलती है और सन्ताप पाती है।"

अरे ! यह माँ जी वहाँ क्या सब कहे जा रही हैं ! रात के अब दो बजेंगे। सन्नाटा है। माँ जी का स्वर कुछ तीखा है। आवाज राजन के कमरे तक अवश्य जाती होगी। माँ जी को यह सब कहने की क्या जरूरत थी ? मैं अपने पर से सब कुछ एक ओर फेंक उठ खड़ी हुई और बढ़कर पति के कमरे में चली आयी।

पति तलहथी पर सिर थामे थे और चुप थे। माँ के पाँवों में देख रहे थे। लेकिन वह देख कहीं कुछ नहीं रहे थे। सब के पार, गत होकर चुपचाप बैठे थे। माँ जी कुछ और कहने जा रही थीं। मुझे देखकर चुप रह गयीं। फिर क्षणेक ठहरीं और वापस चली गयीं।

मैंने कपड़ा बदल लिया। बिस्तरा ठीक किया। पूछा—"सोइएगा नहीं ?"

पति ने सिर उठाकर मुझे देखा।

मैंने पूछा—"कहाँ सोइएगा ?"

"कहीं भी—"

"आज यहीं सो जाइए।" और मैंने उन्हें बाँहों से उठाकर पलंग पर लिटा दिया। इस समय वह एक ऐसे बीमार शिशु की तरह थे, जिसे माँ की सहायता की प्रत्येक क्षण जरूरत रहती है।

उन्होंने पूछा—"तुम कहाँ सोओगी ?"

मेरे मन में काठिन्य आ उभरा—"आपके पास नहीं सोऊँगी।"

"आज सोओ।"

"मेरे सोने से अपवित्र नहीं हो जाइएगा!"

"नीरू—"

"नीरू का क्या कहते हैं? वह पतित है, वेश्या है।"

"नीरू...." उनकी वाणी भींगी थी और उसमें दर्द था।

मैं क्षण उनकी ओर देखती रही। आगे कुछ बोला नहीं गया।

उन्होंने तब मेरा आँचल थामकर अपनी ओर खींचा और अपने पास बैठा लिया। फिर और खींचा और मेरे सिर को अपने हाथों में थामकर छाती पर रख लिया। धीरे से सम्बोधा—"नीरू!"

मेरे भीतर का काठिन्य गल चुका था। और मैं सहज थी। पति का स्वर कानों में पड़ा, तो पलकें उठाकर उन्हें देखा। वह गहरी नजरों से मुझमें देखते रहे। तब बोले—"मैं तुम्हारा स्वामी हूँ और तुम मेरी पत्नी हो—दासी, हर कदम पर यही मानकर चलना क्या बहुत आवश्यक है?"

पति इस प्रश्न में मुझसे क्या अपेक्षा कर रहे हैं, यह मैं नहीं समझी, सो चुप रही और उनकी ओर देखती रही।

वही बोले—"तुम मेरी पत्नी हो, इससे तुमको बहुत संताप है? बहुत कष्ट है?"

मेरे अन्तर को हिलाकर, भीतर को तोड़कर, फफककर कण्ठ तक कुछ आया और प्रवेग बनकर आँखों की राह बह निकला। यह पुरुष कैसा है! यह मुझे अच्छी तरह क्यों नहीं समझ लेता? या खुद इतना क्यों नहीं खुलता कि मैं इसके आर-पार समझ सकूँ? यह मेरा स्वामी है—पति है, क्या सच, मुझे यही संतापता है? नहीं, यह तो पति होकर भी पति नहीं है, कष्ट यहीं होता है। बाहर का स्वीकार भीतर से एकदम अस्वीकार बनकर है, जो मन को काटता है और बेचैन करता है और सुख मानने कभी नहीं देता।

जिस संघात को मैंने भीतर रोक लिया था, वह अब किसी भी भाँति रुका रहना नहीं चाह रहा था। उसका संवेग बाहर आना चाहता था और अवरोध पाकर अङ्ग-अङ्ग को हिला रहा था।

वह बोले—"मैं चाहता हूँ नीरू, कि कष्ट न पाओ!"

मैं उनसे दृढ़ होकर चिपट गयी और बेवशी में उनकी छाती पर अपना सिर रगड़ती रही। तब वह भीतर का बन्धा रुका संघात फफक-कर बाहर चला आया। पति ने मेरे सिर को लेकर छाती पर जोर से दबाया और फिर धीरे-धीरे उसे सहलाते रहे।

उन्होंने सम्बोधा—"कष्ट न पाओ नीरू!"

फिर क्षण-भर चुप रहकर आप ही बोले—"तुम सोचती होगी, कष्ट न पाऊँ, तो क्या पाऊँ? यहाँ कुछ भी तो नहीं है, जो कष्ट देने से अलग होकर हो। जो है, सब कष्ट है।"

मैंने प्रयास कर उनके मुँह को अपने हाथ से बन्द कर दिया। उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और चुप हो गये। मुझे उसी प्रकार अपनी छाती पर लिये मेरा सिर सहलाते रहे।

: ७ :

ऊपर छत पर एक कमरा है, जिसमें माँ जी पूजा करती हैं। कमरा उसे क्या कहा जाय, कोठरी है। साधारण है, स्वच्छ रहती है और निरलंकृत रहती है। सबेरे माँ जी वहीं बैठती हैं। एक चौतरा बना है, उसी पर एक छोटी मूर्ति है, कृष्ण की—संगमरमर की। पूजा वह करतीं नहीं। मूर्ति के सामने बैठी रहती हैं और चुप रहती हैं और अपने को बन्द रखती हैं। सबेरे स्नान कर मैं ऊपर जाने लगी, तो देखा, पति राजन के कमरे में बैठे बातें कर रहे हैं। मैं रुकी नहीं, सीढ़ियाँ चढ़ती ऊपर चली आयी। मेरे बाल सूखे नहीं थे। उन्मुक्त होकर पीठ पर फैल रहे थे।

जिधर छत खुली है, उधर ही आकर मैं खड़ी हो गयी। सामने अनन्त प्रकृति थी और नीले आकाश का विस्तृत आँचल फैला था, जिस पर बादलों के गुब्बारे थे—टँके-जैसे। उनमें गति नहीं थी। और अगर थी भी, तो ऐसी कि नहीं-सी थी और दीख नहीं रही थी। उन्हीं से छनकर प्रकाश घिरा-बन्धा आ रहा था। गौरैये और अबा-बिलों के जोड़े निकट से फुर्र कर उड़ जाते थे। दूर बादलों के पास चीलें चक्कर काट रही थीं। प्रकृति का सब-कुछ धुला लग रहा था। और भला लग रहा था। मैं उसे भर टक देखती रही। फिर उन दृश्यों को अपने भीतर लेकर खो गयी।

वहाँ से हटकर पूजा-घर की ओर गयी। देखा, माँ जी नहीं हैं, तो भीतर चली गयी। कन्हैया की मूर्ति को इकटक देखती रही। वहाँ चरम शान्ति थी। उस पत्थर की मूर्ति के ओठों पर की मुस्कान मुझे सजीव लगी। मुस्कान ऐसी तीखी थी कि बोल रही थी—मुझसे क्या छिपाते हो? मैं सब कुछ जानता हूँ। सब कुछ देखता हूँ। सब का बाहर-भीतर मेरे आगे एकदम उघरा है—नंगा है। मूरख, फिर भी छिपाता है!

सर्वज्ञता की उस मुस्कान के आगे मैं हार बैठी। वहीं चौतरे के आगे जमीन पर बैठ गयी। अन्तर्यामी, तुम सब जानते हो। तुम सब जानते हो अन्तर्यामी! मेरे भीतर लगा कि कुछ गल रहा है और गलकर अन्तस को भिगा रहा है। वह भींग भीतर ही नहीं रही, भिगाती गयी और बाहर चली आयी। आँखों से झर-झरकर आँसू झरने लगे। मैंने उस चौतरे पर अपना माथा टिका दिया—पतित-पावन! मैं पतित हूँ—पतित हूँ भगवान! लेकिन क्षमा के लिए मेरा मुँह एक बार भी नहीं खुला। दोनों बाहुओं में अपना सिर गाड़े मैं उसी चौतरे पर औंधी पड़ी रही।

न जाने कब पति आकर पीछे खड़े हो गये थे। बहुत देर तक उसी प्रकार खड़े रहे। और तब मेरे निकट उस चौतरे के पास बैठ गये। मेरी पीठ पर धीरे से हाथ रखा और सहलाया। फिर उनका हाथ धीरे-धीरे शिथिल हुआ और स्थिर हो गया, जैसे कुछ रुक गया हो, थम गया हो। वह गति-हीनता जैसे मन की अगति को खोल गयी। मैं अपने भीतर अँटकी और उत्थित हुई। सिर उठाकर उनकी ओर देखा। मेरी आँखों में आँसू अब भी भरे थे, जो दृष्टि-पथ को झीना कर रहे थे। लेकिन उस झीनी दृष्टि में भी उनकी दृष्टि स्पष्ट दीखी। उस आकृति पर सिर्फ भाव ही भाव था और संकुल हो रहा था, घनी-भूत हो रहा था। दृष्टि में गहराई थी और आँखों में तरल

बनकर कुछ छाया था, जो गिर नहीं रहा था, अँटका था, लेकिन लगता था कि अब गिर पड़ेगा। वहाँ जो कुछ था, अर्थ था—भाव था, शब्द नहीं था। शब्द कहीं नहीं था। सब डूब चुका था। तल ऊपर आ गया था और खुल गया था।

मैं इकटक उन्हें देखती रही। तब वह मूर्ति जरा हिली। ओठों में स्वर काँपा—"नीरू—"

उत्तर में मैं उनकी ओर उन्मुख हो आयी। भीतर से कहीं कोई शब्द बनकर बाहर नहीं निकला, जैसे शब्द मर चुका था—मिट चुका था। मैंने झप से उनका हाथ लेकर अपनी गोद में कर लिया। क्षण-भर वह उसी तरह देखते रहे। आँखों में जो अँटका था, धीरे ढुलक गया। ढुलककर वह नीचे नहीं गिरा। गालों पर गिरा और लकीर बन गया।

मैंने उन्हें अपनी ओर खींचा—"क्या दुख है आपको, बोलिए!"

उनकी आँखें आधी झिप आयीं। लम्बी साँस लेकर उन्होंने अपनी छाती में भर लिया। उसी दृष्टि से मुझे देखते रहे।

मेरी आँखों में भी ताजा आँसू उभर आये थे। भीगे स्वर में मैंने पूछा—"मैं दुख देती हूँ?"

उनकी दृष्टि में जरा परिवर्तन हुआ, लेकिन वह बोले कुछ नहीं।

"मुझे छोड़ नहीं सकते?....छोड़ दीजिए! मुझे लेकर कब तक झेलते रहेंगे?"

उनकी दृष्टि उड़कर दरवाजे के बाहर गयी। बाहर प्रकाश था। उसी प्रकाश में वह देखते रहे। देखते कहाँ रहे? आँखें खुली थीं, लेकिन दृष्टि का कहीं अँटकाव नहीं था, जहाँ से बन्धकर वह सीमा में हो। उस प्रकाश में फैली वह दृष्टि कुछ नहीं देख रही थी। अपने आप में समाहित थी।

मैं ही बोली—"आपके जीवन में आकर मैंने आपका कुछ नहीं सँवारा। सब बिगाड़ा ही है। सन्ताप बनकर ही इस घर में रही हूँ और क्लेश देती रही हूँ। मक्खी की तरह आपके दूध में गिरी हूँ। लेकिन आप हैं कि इस मक्खी को निकालकर फेंकते भी नहीं।" मैंने उनके दोनों हाथों को अपनी तलहथियों में लेकर दबाया।

वह उसी प्रकार बाहर-बाहर देखते रहे।

मैंने उनका हाथ खींचकर अपनी ओर उन्मुख किया। पूछा—"एक बात जानते हैं?"

वह मेरी आँखों में देखने लगे। ऐसे देखते रहे कि गूँगे हों और बोल नहीं निकल पा रही हो। मैंने अपना सब गोपन उनके आगे खोलकर रख दिया—"मेरा चरित्र अच्छा नहीं रहा है। मैं पतित हूँ।"

मेरा सिर गड़ा था। उनकी ओर देख सकने का मनोबल नहीं था। लेकिन जब उनमें कोई प्रतिक्रिया न दीखी, तो मैंने पलकों की कोर से उन्हें देखा। उनकी दृष्टि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। वह उसी प्रकार टक-बान्धे मेरी ओर देख रहे थे कि सब कुछ उन्हें मालूम है। जानना कुछ नहीं है। तब मैं अपने भीतर और उघर गयी, और निरावरण हुई—"मैं सेक्स-सम्बन्ध को जानती हूँ। मेरा कौमार्य—"

उन नजरों में कोई विकार नहीं आया। दृष्टि सरल रही और सौम्य रही। मैं अपने भीतर चाह रही थी कि वह दृष्टि वैसी न रहे। उसमें धार बने और मुझे काटे। लेकिन देखा कि कहीं कुछ कट नहीं रहा है, तो मन में काठिन्य उभरा। सोचा कि सान पर रगड़ खाये और धार खुले—पैनी हो। सो अपनी बातों को दुहराया—"सुन नहीं रहे हैं, मैं क्या कहती हूँ? मैं अपना कौमार्य गँवा चुकी हूँ।"

धार फिर भी न खुली।

मैं पिघल आयी—"चुप ही रहिएगा ?"

वह चुप ही रहे।

मैं द्रवित हुई और बह आयी—"बोलिएगा नहीं ?"

"क्या बोलूँ ?"

"आप मेरे सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं ?"

"जानता हूँ।"

"विवाह के पहले नहीं जानते थे ?"

"जानता था।"

"तब आपने मुझे क्यों वरण किया ?"

इसपर उनके बोल फिर बन्द हो आये।

"आप मुझे छोड़ नहीं सकते ?"

"नीरू—" शब्द की वाणी में वर्जन भरा था कि मैं आगे न बोलूँ। लेकिन बन्ध खुल आया था, सो भीतर कुछ रुक नहीं रहा था, रोका पार नहीं लग रहा था। मैंने अनुनय किया—"मुझे अपने गले में बान्धकर दुख झेलिए, यह तो अच्छा नहीं है।"

उनकी मुद्रा बोली कि मैं जो कुछ कह रही हूँ, वह अच्छा नहीं है और भीतर उतर नहीं रहा है। फिर भी मैं बोली—"गर्हित हूँ, और आपके जीवन को भी गर्हित बना रही हूँ।"

उन्होंने मेरे हाथों से अपना हाथ झटक लिया। मैं आग्रह से उन्मुख हुई बोली—"मुझे आप छोड़ नहीं सकते ?—आप दूसरा विवाह—"

उनका हाथ तेजी से उठा और चट से मेरे गाल पर आ बैठा।

उस चोट से मैं कृतार्थ हो आयी। भीतर लगा कि कुछ खिल रहा है, विहँस रहा है। पति उठ चुके थे। मैंने उनके चरण पकड़ लिये। मन में उठा कि तुम धन्य हो स्वामी ! लेकिन पुलक से इतनी आकुल थी कि कण्ठ से बाहर कुछ भी न फूटा।

पति ने चरण खींचना चाहा—"छोड़ो !"

मैं चरणों में और लिपट आयी।

न जाने कितनी देर तक उन चरणों को अपने में समेटे उसी प्रकार पड़ी रही। जी चाह रहा था कि यह पुरुष आज मुझे मारे, सजा दे। वही मुझमें सुख उत्पन्न करेगा। लेकिन देखा कि उन्होंने मुझे उठाकर खड़ा कर दिया और स्वयं उतरकर नीचे चले गये।....

यह पति तो आज हैं न! जब पति नहीं थे और मैं कुमारी थी, तो इन्हें अपने यहाँ कई बार देखा था। भैया, राजन और यह सभी एक ही कॉलेज में पढ़ते थे। उस दिन मेरे इण्टर का रिजल्ट हुआ था। मैं अच्छे दर्जे से निकली थी। खुश थी। भैया ने चाय पर बुलाया, तो अपने में हँसती-विहँसती चली आयी। देखा, राजन है, भैया हैं और एक व्यक्ति और है, थोड़ा दुबला शरीर और मलिन वर्ण। खादी का पाजामा और कुरता। नमस्ते कर जब मैं बैठी, तो भैया ने कहा—"यही निरुपमा है।"

जिस व्यक्ति से यह कहा गया था, उसकी ओर मैंने जरा छिपती नजरों से देखा। देखा कि वह व्यक्ति ओठों में चाय का प्याला लिये है और चाय में ही देख रहा है कि चाय ही है, निरुपमा नहीं है। अपने अस्तित्व के इस अस्वीकार के प्रति मेरे मन में तीक्ष्ण-सा कुछ उठा। मैंने राजन की ओर देखा। वह ओठों को एक किनारे पर दाँतों से दबाकर जरा मुस्कुराया। उसकी आँखों में कुटिलता थी।

मेरे जी में जरा भी जिज्ञासा नहीं जगी कि यह व्यक्ति कौन है। लेकिन भैया ने जिस ढंग से परिचय दिया था, उससे लगा कि वह

मुझे पहले से जानता है, सिर्फ देखा नहीं था, सो आज दिखा दी गयी।

सभी चुप थे, और यों समय ठहर गया था। भैया बोले—"चुप क्यों हो कुमार ? निरुपमा को कांग्रेचुलेशन—"

जिसे कुमार कहा गया था, उसने सुन लिया और चुप रहा। न ओठों से प्याला हटाया और न किसी ओर दृष्टि ही की। मेरे भीतर झुंझ उठी कि यह आदमी अपने को क्या लगाता है!

तभी उसने प्याला एक ओर रख दिया और मुझे देखा। ऐसे देखा, जैसे कि अब तक वह अपने भीतर मेरी ओर देखने का साहस सँजो रहा था। वह दृष्टि बहुत खुली थी। वहाँ मैं अधिक क्षण तक नहीं देख सकी। तब उस कुमार ने कहा—"निरुपमा को कांग्रेचुलेशन दूँ ? शब्दों में क्या रखा है ? देना है, तो ठोस दिया जाय। और तुम जानते हो, *मैं ठोस कुछ दे नहीं सकता। इसलिए सोच रहा था कि* शब्द न दूँ, अर्थ न दूँ, तो क्या दूँ ?" और वह इपत् हँसा।

फिर भैया और उस व्यक्ति को छोड़कर मैं चली गयी। राजन मुझसे सिनेमा में मिला। राजन ने बतलाया कि वह कुमार है और तेज-तर्रार विद्यार्थी है। गरीब है। ट्यूशन करता है और पढ़ता है। अखबारों में लिखता है और पत्रकार बनने की धुन है।

रात में लौटी, तो भैया ने डाँटा—"कहाँ थी ?"

मैं सोच रही थी कि क्या जवाब दूँ। झूठ या सच, कि भैया उठे। कमरे का दरवाजा बन्द कर लिया। सामने आकर बोले—"सिनेमा गयी थी ?"

मैंने सिर हिलाया कि हाँ।

"राजन भी था ?"

मैं चुप हो गयी।

"पैरामाउंट गयी थी न ?—पैरामाउंट होटल ?"

मुझे लगा कि धरती खिसक रही है और वह कमरा घूम रहा है।

भैया ने अपने पास पुकारा—"इधर आ!"

लेकिन मैं किधर भी नहीं गयी।

भैया बढ़ आये और मेरे मुँह के पास नाक लाकर बोले—"मुँह खोल!"

मेरा मुँह न खुला। साँस बन्ध आयी।

भैया अपने भीतर जोर से चीखे, लेकिन बाहर उनका स्वर धीमा निकला—"शराब पी है?"

उनकी मुट्ठी भिंच आयी। आकृति लाल हुई, स्याह हुई, सफेद हुई और फिर लाल हो गयी। ओठों को उन्होंने दाँतों के नीचे खींच लिया। दाँतों का दबाव बढ़ता गया—बढ़ता गया और फन् से खून निकल आया। खौलकर उफन आये क्रोध को उन्होंने बहुत कष्ट से अपने में समेटे रखा। तब भीतर से टूटकर, हाहाकार कर बोले—"जा, चली जा यहाँ से!" और स्वयं पलंग पर जा गिरे।

मैं गड़ी-सी खड़ी रही कि धरती फटे, तो उसमें समा जाऊँ।

भैया अपने भीतर अनुताप से भरे थे और कष्ट पा रहे थे। उसी तरह न जाने कितना समय निकल गया।

बाहर पिता जी ने पुकारा—भैया का नाम लेकर पुकारा। भैया उसी तरह पलंग पर पड़े रहे। मेरी गति बन्धी थी। दो बार धीरे-धीरे पुकारकर पिता जी चले गये। तब भैया उठे। दरवाजा खोल दिया और कहा—"रास्ता देखा है न?—जा!"

मुझसे न सिर उठाया गया और न जाया गया।

भैया ने तीक्ष्ण स्वर में पुकारा—"माँ!"

और हम दोनों ही माँ के आने की प्रतीक्षा करते रहे। माँ आयी। भैया फुँककर बोले—"ले जा अपनी बेटी को!"

माँ ने गहरी नजरों से हम दोनों भाई-बहिनों को देखा। बात समझ में नहीं आयी, तो पूछा—"क्या हुआ है ?"

और जो कुछ हुआ था, कौन किस मुँह से बोले ? भैया दीवार की ओर मुँह कर लेट गये। मैं अपने इस प्राण-क्षीण शरीर को खींच-कर उस कमरे से बाहर ले आयी।....

कई दिनों के बाद यह कुमार मेरे यहाँ पहुँचे। मैंने कहा—"आइए !"

और वह कृतार्थ हो आये। नीची नजरों में ही पूछा—"भैया नहीं हैं ?"

"नहीं।"

जवाब सुनकर वह एक क्षण टिके। फिर हठात् मुड़ते हुए बोले—"उन्हें कहिएगा, कुमार आया था।"

वह चले गये और मैं भीतर आ बैठी। कि देखा, कुमार भीतर चले आ रहे हैं। अन्दर आकर बोले—"मैं यहाँ इन्तजार करूँ, तो आपको कोई एतराज तो नहीं होगा ?"

"नहीं, बैठिए !"

बैठकर वह चुप थोड़ी देर इधर-उधर देखते रहे। मैंने पूछा—"आपके लिए चाय लाऊँ ?"

"नहीं।"

तब मैं भी अपने आगे किताब खोलकर चुप हो बैठी।

कि वह बहुत धीरे बोले—"मेरी एक किताब छप रही है।"

"जी—"

"चाहता हूँ, उसे आपको समर्पित कर दूँ।"

"ऐसा क्यों चाहते हैं आप ?"

वह कुछ बोले नहीं और अपने में बहुत छोटा हो आये। और तब उठकर चुपचाप चले गये।

उसके बाद राजन का मेरे यहाँ आना-जाना बन्द हो गया। मुझ पर नजर रखी जाने लगी। लेकिन मैं राजन से कई बार मिली—मिलती रही। तब एकाएक मेरे विवाह की चर्चा होने लगी। मैंने माँ से कहा—"विवाह मैं नहीं करूँगी।"

माँ हँसी—"मत कर—"

"सच माँ, मैं नहीं करूँगी।"

"अरे, तो कौन करने को कहता है ?"

माँ की इस सहमति में कितनी असहमति थी, यह क्या मैं नहीं समझ रही थी ? इससे क्षुब्ध हो उठी और मन में ठान लिया कि माँ से नहीं बोलूँगी। एक महीने तक माँ से नहीं बोली। और इस न बोलकर विरोध करने की नीति में विवाह का दिन निकट चला आया। तब बहुत सोच-विचारकर मैं भैया से मिली—"मैं विवाह नहीं करूँगी।"

भैया ने एक बार ऊपर से नीचे तक मुझे देखा। फिर चुप हो रहे। अखबार देख रहे थे, सो अखबार में नजरें गाड़ लीं।

मैं बोली—"मैं आगे पढ़ूँगी।"

भैया बोले नहीं।

मैं किंचित उत्कट हो आयी—"क्या कहते हैं, नहीं पढ़ूँ ?"

"पढ़ो !"

"लेकिन मेरा विवाह होकर ही रहेगा ?" मैंने जवाब तलब किया।

भैया फिर चुप हो आये।

"मैं जहर खा लूँगी।"

"खा लेती, तो अच्छा था।" भैया के स्वर में आक्रोश था।

तब मैं वहाँ से यही निर्णय कर चली कि जहर खा लूँगी—जरूर जहर खा लूँगी। लेकिन....लेकिन अब तक जिन्दा हूँ और ऐसे जी रही हूँ कि जीना बेकार लग रहा है। सारा जीवन जहर बन चुका है। न इसे पी सकती हूँ और न फेंक सकती हूँ। मेरे जीवन के इस जहर को पति घूँट-घूँटकर पीते रहे। मेरे लिए अमृत ही छोड़ते रहे। लेकिन वह अमृत भी मुझसे वरण नहीं किया गया। खैर,

जीवन के पीछे तो इतना अम्बार लगा है कि उसे कुक्कुट की तरह खोद-खोदकर बिखेरना अच्छा नहीं होगा। उससे गलीज छितरा जायगा और मन भारी हो उठेगा।...

पति ने नीचे से पुकारा—"नीरू!"

मैं नीचे उतर आयी। भीतर जो कुछ बन्धा था, उसे पति के आगे खोलकर रख दिया था। इससे जी हलका न हुआ, भारी हो आया। लेकिन मन में ऊमस नहीं थी। पति के स्वर के सहारे लगी-लगी नीचे कमरे में गयी। देखा, पति पहिन-ओढ़कर तैयार हैं। मुझे कमरे में लेकर दरवाजा उन्होंने बन्द कर लिया। कहा—"अपना ट्रंक खोलो!"

मैंने ट्रंक खोल दिया। वह ट्रंक में झुके। कई साड़ियाँ निकालीं, ब्लाउज निकाले। उलट-पलट कर देखा। फिर और कई साड़ियाँ निकालीं। और तब जैसे अपना ही निर्णय अपने को न जँचा हो, वैसे ही हारकर बोले—"देखो जी, तुम अपने लिवास के बारे में आप अच्छा जानती हो। कोई साड़ी चुनो और पहन लो!"

मैं शृंगार की मेज से टिककर खड़ी थी, वहीं खड़ी रही और उन्हें इस भाव से देखती रही कि वह आज क्या चाहते हैं कि मुझे

रुका देखकर वह उठे एक साड़ी उठा ली। और मुझपर फैलाकर बोले—"क्यों, कैसा लगता है?"

मैं कुछ बोली नहीं। अपने ऊपर फैली साड़ी हटाने लगी, तो उन्होंने आग्रह किया—"नहीं, पहिनो तो—"

मैंने उनकी आँखों में देखा और पूछा—"क्यों?—क्या है?"

"पहिनो तो—"

अब मैं स्वतः नहीं थी, उनमें थी और अनुगत थी। मैंने साड़ी पहिन ली और इस भाव से खड़ी हो गयी कि अब क्या करूँ?

वह बोले—"बाल ऐसे ही रखोगी?—खुला? सँवारोगी नहीं?" और वह मुझे खींचकर मेज के सामने ले आये और आइने के सामने खड़ा कर दिया। हाथ में कंघी दी। फिर बोले—"या मैं सँवार दूँ?"

हठात् मुझे हँसी आ गयी—"आप सँवारेंगे?"

"क्यों?"

मैं उनकी ओर कंघी बढ़ाती हुई बोली—"सँवार दीजिए!"

उन्होंने कहा—"तुम समझती हो, मैं यह आर्ट नहीं जानता? सब जानता हूँ। लेकिन आर्ट आर्ट है। उसके तैयार होने में देर लगती है। तुम जल्दी तैयार हो जाओ!" फिर एक ओर कुर्सी पर बैठकर बोले—"तैयार होने का माने समझी?—मेकअप—पूरा मेकअप, अधूरा कुछ नहीं।"

ढीला जूड़ा बान्धते-बान्धते मेरे भीतर उठा कि क्या है यह सब? क्यों है? मुझे बना-सँवारकर क्या किया जायगा? लेकिन पति की ओर मुड़ी, तो कुछ समझ पार नहीं लगा। वह कुर्सी में बैठे थे, लेकिन अपने से बहुत दूर थे। आँखें मेरी ओर ताक रही थीं, लेकिन मुझमें बन्धी न थीं, मेरे पार थीं और कुछ अलक्ष्य, अगोचर देख रही थीं। अभी दो क्षण पहले जो रसीला उल्लास था, वह कहाँ चला गया था?

अचानक वह अपने में लौटे और दायें हाथ में सिर थाम लिया। अँगूठे और उँगलियों के बीच पकड़कर माथे को दबाया। मैंने पूछा—"जी अच्छा नहीं है?"

वह जरा सम्हले—"किसका?"

"आपका—"

"मेरा? मेरे जी को क्या हुआ है?" फिर उन्होंने पूछा—"तैयार हो?"

"हूँ।"

तब वह मेरे निकट आये। मुझे देखकर हँसे—"यही तैयार हो? ऐसे ही?" और उन्होंने उँगलियों में स्नो लिया और मेरे गाल पर टोक दिया। बोले—"ठीक करो!"

और उस पुरुष के सामने अपना शृंगार करने में उस दिन मुझे बहुत लज्जा आयी। लेकिन एक-एक आज्ञा मानकर सब-कुछ करती गयी।

कंगन का जोड़ा अपने हाथों में लेकर वह एक क्षण रुके। न जाने उस एक ही क्षण में उन्होंने क्या-क्या सोचा। फिर बोले—"एक दिन मुझे रुपयों की जरूरत थी। तुमने यह कंगन दिया था। यही था न?"

मैं क्या बोलती?

वह बोले—"हाथ इधर लाओ!"

मेरा हाथ उनके स्वर के सहारे खिंचकर स्वतः उनकी ओर बढ़ गया। कंगन हाथों में डाल दिये। उन्होंने तब परे हटकर देखा। फिर कंगन उतारते हुए बोले—"यह अच्छा नहीं रहेगा। ओल्ड—हैक-नीड,...वे चूड़ियाँ कहाँ हैं?—जड़ाऊ-जैसी जो थीं?"

मैंने ढूँढ़कर वे चूड़ियाँ सामने रख दीं।

उन्होंने सौकर्य-पूर्वक मेरी कलाइयों में उन्हें डाल दिए और देखने लगे। मैं हँसकर बोली—"चित्र हूँ ?"

वह मुस्कुराये।

"कैसी बनी हूँ ?"

"ऐसी बनी हो कि बस—"

"आपको अच्छी लगती हूँ ?"

"खूब—बहुत—"

"छोड़िए, क्या अच्छी लगती हूँगी ?"

"क्यों ?"

इस 'क्यों' पर मैं चुप हो आयी और अन्तस भींग आया। और वह जैसे अपने भीतर अपने को अपराधी स्वीकार कर उलझ आये। यह पुरुष जितना देख में आता है, वह बिल्कुल बाहर का है। भीतर से कभी दिखलाई पड़ता ही नहीं। जरा-सा खुलता है कि फिर घटा-टोप घिर आता है और उसी में सब-कुछ घुप्प हो जाता है। उस अन्तस्थ होते हुए पुरुष से मैं बोली—"मुझे देख लिया ?" मेरा कण्ठ अकस्मात भर आया था।

मेरी वाणी पर वह पिघल आये और मेरी आँखों में देखा।

मैंने फिर पूछा—"देखा हुआ हो गया हो, तो जाऊँ ?"

मैंने सोचा कि मेरे इस शृंगार का इनके सम्मुख क्या प्रयोजन है ? मैं सिर्फ देखी जाऊँ, दिखाई जाऊँ, इससे ज्यादा का उपयोग यहाँ नहीं माना जाता। मेरा रूप है, यौवन है, देह है, इन सबों को उपभोग की सीमा से अलग हटाकर रखा गया है।

मैंने कहा—"अब इन्हें उतार दूँ ?"

वह कुछ देर मुझ पर दृष्टि रोके देखते रहे। एकाएक खड़े होकर बोले—"नीरू, आओ—"

और वह दरवाजा खोलकर बाहर हो गये। राजन अपने कमरे के बाहर खड़ा था। उससे पति ने कहा—"राजन, हमलोग जरा बाहर जा रहे हैं। दोपहर तक लौट आवेंगे। साथ ही खाना खायँगे—क्यों ?"

'क्यों' कहकर पति क्षण-भर स्वीकृति की अपेक्षा में खड़े रहे। राजन मुझे देख रहा था—केवल मुझे। मुझपर आकर उसकी दृष्टि बन्ध गयी थी।

पति का स्वर सुनाई पड़ा—"आओ !" और मैं अनुगत चुपचाप बढ़ती चली गयी।

दोपहर तक यों ही यहाँ-वहाँ घूमते रहे। सड़कों पर चले, मैदानों में चले। पार्कों में ठहरे। मैं ठान चुकी थी कि पूछूँगी नहीं, चलती चलूँगी। लेकिन चलकर कहाँ जा रही हूँ, कहाँ जाऊँगी, इसका कहीं उत्तर नहीं था, इसलिए मन बेचैन हो रहा था और कष्ट पा रहा था।

पति ने सामने की ओर उँगली उठाकर कहा—"यह म्यूजियम है—संग्रहालय, जहाँ अतीत को और इतिहास को तराशकर रखा जाता है। यहाँ का म्यूजियम देखा है तुमने ?"

मैं न हाँ कह सकी और न न। चुपचाप उस म्यूजियम के भव्य भवन की ओर देख लिया। फिर पति बोले—"अगर जाने की जल्दी न हो, तो चलो !"

जिस समय म्यूजियम में घुसे, तीन बज चुके थे। अब तक न खाना हुआ था और न नाश्ता। यह क्या है, जो उन्हें भूखे-प्यासे इस प्रकार घुमा रहा है ? आदमी जब भीतर से बहुत उलझा हो और राह नहीं मिल रही हो, तो वह क्या ऐसे ही नहीं भटकता रहता है ?

म्यूजियम के भीतर आकर वह बहुत वाचाल हो आये। मूर्तियाँ थीं और टूटे पत्थर थे, जो बहुत यत्न से सम्हालकर रखे थे। आदमी का मन जब भीतर ही नहीं सम्हलता, तो व्यक्त होना चाहता है—

ऊपर उभरना चाहता है कि उन उभरी लकीरों को लोग देखें। तब वह कागज पर लिखता है और पत्थर तराशता है। उन तराशे पत्थरों की लकीरों में भाव होता है, भाषा होती है, जो कला कहलाती है। और आदमी का निगूढ़ इसी कला के माध्यम से प्रकट होता है। उन्हीं तराशे पत्थरों को आज हम संग्रहित करते हैं और इतिहास की ओट में कला के विकास को, सभ्यता के विकास को परखते हैं कि मानवता कब कितनी ऊँची थी।

पति कदम-कदम पर मूर्तियों के आगे रुकते। मूर्तियों का परिचय देते। और अतीत को वर्तमान की अवधि में डालकर व्याख्या करते। मूर्ति-कला के विकास का युग—अशोक का काल, हर्ष का काल, कुशान-काल, गुप्त-काल, काल का अपना विस्तार है, जो सीमा में नहीं है, फिर भी मूर्तियों में वह काल अंकित है, कला में काल को बान्धा गया है कि वह अनन्त होकर भी अनन्त नहीं है और अशोक का है, कुशानों का है, गुप्तों का है। इतिहास की लम्बी डगर है, जिस पर शोध करने वाले चलते हैं और दिशाएँ निर्धारित करते हैं कि यह पूर्व का है, यह उत्तर का है।

पति संग्रहालय का गाइड बने सब कुछ दिखला रहे थे। लेकिन मैं मूर्तियाँ कम और उन्हें ज्यादा देख रही थी; लेकिन कहीं उन्हें पकड़ नहीं पा रही थी। बड़े हॉल में पहुँची, तो देखा, आर्ट स्कूल के लड़के हैं, जो नंगी फर्श पर तौलिया डाल-डालकर बैठे हैं। आगे इजेल पर कैनवस है, रंग है, कूचियाँ हैं, और लोग बुद्ध को, यक्ष को, शिव को, उमा को रंगों में रूप देने में व्यस्त हैं।

पति को देखकर कुछ लड़के उठ आये। श्रद्धा से हाथ जोड़े और जैसे दर्शन से कृतार्थ बन आये हों, उसी प्रकार खड़े रहे। एक ओर से सुषमा निकली—"अच्छा, तो आप दोनों—" और फिर वह विहँस कर बोली—"एक मिनट—" और उसने अपने कन्धे से

लटके कैमरे को ठीक किया। लेंस हम लोगों की ओर करके पूछा—"इजाजत है ?"

पति बोले—"फोटो की ?" और उन्होंने मुझे दोनों हाथों से पकड़कर सुषमा के आगे खड़ा कर दिया—"लो, यह निरुपमा है, चाहे जितना स्नैप ले लो !"

उतने लड़कों के बीच पति की उस प्रकार की हरकत से मैं लाल हो आयी। सुषमा ने इशरार किया—"अकेले-अकेले नहीं, दोनों की साथ—"

पति मुस्कुराये—"अरे, मेरा फोटो लोगी ? न जाने मैं कैसा लगूँ ! फोटो के लायक क्या मेरा चेहरा है ? तुम लोग तो चित्रकार हो—कलाकार; मॉडेल भी पसन्द की नहीं चुन सकते ?"

लेकिन पति के इनकार करने पर भी फोटो लिये गये—कई फोटो लिये गये। लड़के हम लोगों को घेरकर खड़े हो गये और फोटो लिये गये। तब सुषमा ने मेरी उँगली पकड़कर खींचा—"इधर आइए !"

पति इषत् हँसकर बोले—"नहीं, नहीं, सुषमा, वह कहीं नहीं जायँगी। आज मेरे साथ बुक्ड हैं।"

और पति के उस वर्जन को परिहास मानकर सुषमा मुक्त हँसी—"बस पाँच मिनट में छोड़ दूँगी।" और सुषमा मुझे खींचती ले गयी। पति की आवाज कानों में पड़ी—"लेकिन पाँच मिनट से ज्यादा नहीं।"

उस हॉल से निकालकर सुषमा मुझे चित्रागार में ले आयी—"बहुत दिनों के बाद आपसे मुलाकात हुई।"

मैंने कहा—"तुम्हारी तरह आजाद तो नहीं हूँ !"

"उनसे कहूँ कि आजाद रखा करें ?"

"कहो !"

तब सुषमा एक क्षण रुकी मुझमें देखती रही। न जाने क्या देखा कि उसके मर्म के भीतर से आवाज निकली—"वह आप पर बन्धन रखते हैं ?"

सुषमा की वाणी ने मुझे डँस लिया। हाय ! अगर वह बन्धन रखते, तो मैं अपने को कितना कृतार्थ मानती ! यह बन्धन का अवकाश ही कष्ट देता है। मेरा अन्तर गीला हो आया—"नहीं, वह ऐसे नहीं हैं कि बन्धन रख सकें।"

सुषमा का अन्तर खिल आया—"सो ही तो, वह ऐसा हो कैसे सकते हैं !"

और तब हम दोनों को ही लगा कि उस आधा मिनट में ही वातावरण भारी हो उठा है। फिर सुषमा ने ध्यान मोड़ा—"ये अजन्ता की शैली के चित्र हैं...."

चित्र हैं या नहीं हैं, या वे हैं, तो किस शैली के हैं, इस पर मेरा मन नहीं था। मैंने धीरे से पूछा—"यहाँ कोई कैंटीन नहीं है ?"

"है।"

"वह आज सवेरे से कुछ नहीं खा सके हैं। भूखे-प्यासे घूम रहे हैं।"

सुषमा बातों को समझने के लिए मुझे देखती रही।

मैं प्रयास कर मुस्कुरायी—"तुम लोग तो कलाकार हो न सुषमा ! मन की मस्ती में भूख-प्यास सब भूल जाती है। है न ?—"

सुषमा खिन्न मुस्कुरायी।

मैंने कहा—"उन्हें बुला लो !"

हॉल में पति अब भी लड़कों के बीच बातें कर रहे थे। सुषमा ने पूछा—"बातें खतम नहीं हुई हैं ?"

"हो गयी।"

"—तो आइए !"

पति उठकर चले आये। बातों में ही उलझे हम लोग कैंटीन तक पहुँचे, तो वह एकाएक बोले—"अरे देखो, सुषमा! आज हम लोगों ने कुछ नहीं खाया। नाश्ता भी नहीं किया।" और उन्होंने लज्जित होकर अपराधी भाव से मेरी ओर देखा।

पति ने जो कुछ कहा था, वह स्वीकृति-भर थी। उन्हें उत्तर की या प्रतिस्वीकृति की अपेक्षा नहीं थी। हम दोनों ही चुप रहे और एक टेबुल के गिर्द बैठ गये। सुषमा ने अपनी घड़ी में देखा, चार बजने को थे। उसने पूछा—"क्या खाया जाय?"

उत्तर कोई नहीं दे सका। बारी-बारी से तीनों एक दूसरे की ओर देखते रहे। ब्वाय आया, तो सुषमा बोली—"दो खाना और एक जगह सैंडविच।"

पति ने बात काटी—"खाना कौन खायगा?—तुम दोनों?"

सुषमा बोली—"जिसने नहीं खाया है, वह खायगा।"

पति निश्चय के स्वर में बोले—"देखो भाई, मैं अपनी पसन्द किसी पर लादना नहीं चाहता। तुम लोग जो चाहो, खाओ। मैं तो फ्रूट सलाद लूँगा।—ब्वाय, फ्रूट सलाद।"

ब्वाय आगे दूसरी आज्ञा के इन्तजार में खड़ा रहा। जब कोई कुछ नहीं बोला, तो वह चला गया और तीन जगह फ्रूट सलाद ले आया।—तो पति हँसे—"देखो, मर्दों की पसन्द सदा से औरतों पर लदती आयी है। श्री गणेश करो!"

खाने के बीच में कोई कुछ नहीं बोला। खाना खतम हो गया, तो सुषमा ने कहा—"बड़ा डल रहा। खाने के समय आप नहीं बोलते?"

पति ने कहा—"अयँ, बोलता क्यों नहीं? लेक्चर दे सकता हूँ। लेकिन मैंने समझा, तुम दोनों में लड़ाई हो गयी है, इसलिए चुप हो।"

इस पर सुषमा खुलकर हँस उठी। हँसी मुझे भी आयी। और फिर हम तीनों ही एक साथ हँसते रहे। सुषमा ने पूछा—"आप लोग किधर जायँगे ?"

पति ने मेरी ओर देखा—"क्यों नीरू ?—पिक्चर ?....हम लोग पिक्चर चलेंगे। तुम भी चलो सुषमा !"

सुषमा ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं...."

सुषमा से अलग हुई, तो उन्होंने पूछा—"थक गयी हो ?"

"नहीं।"

"नाराज हो ?"

"नहीं।"

"—तो चुप क्यों हो ?"

"कहाँ हूँ चुप—"

वह क्षण-भर चुप रहकर बोले—"अभी कुल साढ़े चार बजे हैं। पिक्चर छः बजे शुरू होती है। बीच में डेढ़ घण्टा पड़ा है। इसे कैसे काटा जाय, बोलो !"

मैं तो निमित्तमात्र थी। कर्त्ता वह थे। उनका संकेत ही सब कुछ था। मैं स्वतः में कुछ नहीं थी। इसलिए चुप रही। वह बोले—"चलो, हरी घास पर क्षण भर...."

हमलोग म्यूजियम के आगे हरी-हरी नरम दूब पर आ बैठे। सूरज उस संग्रहालय के विशाल भवन की ओट में था और भवन की छाया दूर तक घासों पर फैली थी। उसी छाया में दो-चार लोग और इधर-उधर बैठे थे। क्यारियों में पौधे लगे थे, जिनकी पत्तियाँ और लत्तरें बहुत हरी थीं और उनके शिखरों पर लाल, पीले, नीले फूल

खिले थे। उन्हीं फूलों में अपने को अँटकाकर वह देखते रहे। उस प्रकार चुप हो आने पर लगा कि समय अँटका हुआ है और पहाड़ बनता जा रहा है।

मैंने टोका—"घर चलिएगा?"

"घर?" उन्होंने मेरी ओर देखा।

"हाँ।"

"क्यों?"

"एक सुबह से बाहर हैं। न जाने माँ क्या सोचें—"

"लेकिन मैं तो घर से भाग आया हूँ।" कहकर वह जरा हँसे। और फिर तुरत विषय बदलकर बोले—"वह देखो नीरू, वह पॉपी खिली है।....सूरजमुखी का फूल तुम्हें अच्छा लगता है? खूब है यह फूल भी! भई, मुझे तो यह बेहद पसन्द आता है। खिलेगा, तो सूरज की ओर मुँह कर ही खिलेगा। वनस्पति शास्त्र के जानने वाले शोध में लगे हैं कि ऐसा क्यों होता है—"

और तब वनस्पति-शास्त्र पर उनका एक पूरा लेक्चर हो गया।

मैंने टोका—"आप तो आर्ट्स में थे। यह बोटैनी कहाँ पढ़ी?"

उन्होंने हँसकर एक धौल मेरी पीठ पर लगाया—"डैम, सारा मूड खराब कर दिया।" फिर बोले—"नीरू, मैं एक अच्छा प्रोफेसर हूँ न?"

"कायल हूँ।"

"प्रोफेसरी कर लूँ?"

"मैं कहती हूँ—"

"तुम कहती हो, मैं सोचता हूँ। लेकिन इस प्रोफेसरी पर अँटक सकूँगा?"

"क्यों नहीं अँटकिएगा? अँटकना चाहिए। घर की हालत—"

वह जरा तीखे पड़े—"हम लोग यहाँ घर की हालत लेकर बैठे हैं ?"

मैं उनकी वाणी पर अकचका आयी। उनकी ओर देखा और फिर चुप रह गयी।

तब वह उठे। मुझे हाथों का सहारा देकर उठाया। हमलोग रिक्शे में आ बैठे। पति चुप रहना नहीं चाहते थे। बातों में अपने को उलझाकर रखना चाहते थे। उलझा रहना ही आवश्यक था। बाहर का उलझाव न रहे, तो आदमी खाली रहेगा और तब भीतर में उलझेगा। मैंने अनुभव किया कि वह बाहर-बाहर ही रहना चाहते हैं। अपने भीतर झाँककर देखना नहीं चाहते। उन्होंने रिक्शा वाले से पूछा—"यहाँ अच्छा सिनेमा कौन चल रहा है जी ?"

"अच्छा ?—पिलपिली साहब है। हॉल में बैठिए और आखिर तक हँसते रहिए ?"

"तुमने देखा है ?"

"देखा है—आगा है, श्यामा है—"

"और सब से खराब पिक्चर कौन लगी है ?"

"खराब ? सब तो खराब ही है। सिनेमा क्या अच्छा होता है ? मन को खराब कर देता है। लत लगती है, तो पैसे की ख्वारी होती है।"

"तेरे पैसे की भी ख्वारी होती है ?"

"होती है साहब,—कहाँ ले चलूँ ?"

"पिक्चर देखनी है। तुम जहाँ चाहो, उतार दो। तुम्हारी तो सब देखी है।"

रिक्शा वाला अपने में कुछ छोटा हुआ—सिमटा—"मेरा क्या देखना। जहाँ कहें, ले चलूँ।"

"अपना पिलपिली साहब दिखलाओ !"

पिक्चर हास्य-प्रधान जरूर थी। पति हँसते थे। बात-बात पर हँसते थे। लेकिन हँसी को जो मुक्त होकर फैलना चाहिए और खिलना चाहिए; वैसा न फैलाव था और न प्रस्फुटन ही—जैसे भीतर रुद्ध हो। जड़ बन्धी हो और बाहर सूखी टहनियाँ हवा में साँय-साँय कर रही हों। उन्होंने कई बार मेरे हाथ को लेकर दबाया। ठहाके लगाते रहे। लेकिन वह पुरुष क्या सचमुच हँस रहा था? नहीं, वह रुद्ध था, बन्द था। हँसी थी, वह बाहर की थी। भीतर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। मेरा कष्ट बहुत बढ़ आया। धीरज कलेजे में किसी प्रकार बन्ध नहीं रहा था। वैसे में साँस रुकी मालूम पड़ी और मन बार-बार बेचैन होने लगा। मैं अधीर होकर बोली—"घर चलिए!"

"क्यों?" उस अन्धेरे में उन्होंने मुझे देखने की चेष्टा की।

"चलिए—"

"कैसा अच्छा तो है—"

"होगा;—आप चलिए।"

मेरी वाणी को थामकर वह तत्क्षण उठ आये।

बाहर आकर पूछा—"किधर चलोगी?"

"घर....घर चलिए।"

उन्होंने हाथ बढ़ाकर मेरे हाथ को अपने हाथ में ले लिया। बोले—"आओ, बाजार होते चलें।"

मैं विनत अनुगत उनके साथ हो गयी।

सारा नगर प्रकाश से जगमग-जगमग कर रहा था। दुकानों के बोर्ड में जो लाल, हरी, नीली, पीली रोशनी लगी थी, उसका प्रकाश सड़कों पर बिखर रहा था। मेरे बराबर आकर पति बोले—"यह सिल्क की दुकान है। आओ, जरा देखें।" और वह दुकान में आगे बढ़ गये।

दुकान में भीतर कई लोग खड़े थे। देशी साहब भी थे और विदेशी साहब भी। दो महिलाएँ साड़ियाँ देख रही थीं। अधेर महिला को जो साड़ी पसन्द थी, वह उस कमसिन युवती को जँच नहीं रही थी। सेल्समैन हमारी ओर मुखातिब हुआ—"क्या दिखलाऊँ?—साड़ियाँ?"

पति खादी पहिनते हैं। उनके लिबास को देखकर सेल्समैन ने निश्चय किया कि साड़ियाँ ही चाहिए। और उसने पूछा—"कैसी लाऊँ?"

पति बोले—"दो-एक मेल की, अच्छी-सी।"

फिर दो-एक मेल की ही नहीं, कई मेल की साड़ियाँ आयीं। हलके रंग की, गाढ़े रंग की, जड़ी किनारी की, कामवाली किनारी की, सादी किनारी की, चौड़ी किनारी की, पाइपिन की, फिर बिना किनारी की। पचास की, सत्तर की, अस्सी की, सौ की....

पति ने मुझसे पूछा—"कौन-सी पसन्द है

मैं तटस्थ थी। साड़ियों में मेरा मन न था। मेरा मन उनमें था। मैंने उनकी ओर करुणा से भरकर देखा कि साड़ी लेना क्या जरूरी है? मुझे उन्होंने देखा, पहचाना और फिर उनकी दृष्टि मुझ पर से उड़ गयी हँसकर बोले—"देखो भाई, पैसे ज्यादा नहीं हैं। कोई दो पसन्द कर लो!"

वे दोनों महिलाएँ अपने सामने की साड़ियों से हटकर इधर ही देख रही थीं, उस युवती ने मेरे आगे से एक साड़ी खींचकर कहा—"माँ, यह कितनी अच्छी है!" लड़की की पसन्द बेजा नहीं थी। उस साड़ी के लिए उसके मन का मोह उसकी आँखों में भरा-उभरा था। कि उस अधेर महिला ने कहा—"दाम ज्यादा है।"

पति ने सेल्समैन से कहा—"यह बान्ध दीजिए और वह—क्यों नीरू, ये ही न, कि दूसरी?"

मने देखा, सेल्समैन टक बान्धे मेरी ओर देख रहा है और जवाब की प्रतीक्षा में खड़ा है कि आज्ञा हो, तो साड़ियाँ बान्ध दी जायँ। मुझे लगा कि मुझे कुछ कहना चाहिए। मैं बोली—"ठीक है, ये ही ठीक हैं।"

साड़ियाँ बन्ध गयीं। दाम चुकता हो गया। सेल्समैन ने बंडल मेरी ओर बढ़ा दिया। साड़ियों का दाम बतलाया गया था। कानों ने सुना था, लेकिन मैं कुछ नहीं सुन सकी थी। दाम चुकता किया गया था, आँखों ने देखा था, लेकिन मैं कुछ नहीं देख सकी थी। बंडल मैंने हाथों में थाम लिया। लेकिन मन में उल्लास नहीं था। व्यथा थी और रगों को पीड़ रही थी। मैं चुपचाप दुकान से उतर आयी।

सामने माणिकलाल एण्ड संस के शो-केस से तीव्र प्रकाश आ रहा था। शो-केसों में जेवर धरे थे और उनके पहलों से बिजली की रोशनी टकरा रही थी और चकाचौंध पैदा कर रही थी। पति क्षण-भर उधर देखते रहे। उन आँखों को देखकर मैंने जान लिया कि उनके भीतर कुछ संकल्प बन्धा है। वह बोले—"इधर आओ!"

"मैं किधर भी नहीं जाऊँगी। घर चलिए!"

"बस यहीं—माणिक लाल की दुकान तक...."

"मुझे कुछ लेना नहीं है।"

"अरे लेना किसे है?—आओ!" और उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचा। कहा—"जेवर बड़े आदमियों के लिए शृंगार की चीजें हो सकती हैं, लेकिन जो बड़े नहीं हैं, उनके लिए वे नुमायश की चीजें हैं। आओ, मुलाहिजा फरमावें!"

उस दुकान के ऊपर चढ़ते मेरा अन्तर काँपा। आज यह क्या करने पर उतारू हैं? मुझे लगा कि मुझे सजा दी जा रही है।....सजा? जरूर सजा दी जा रही थी। लेकिन वह सजा ऐसी थी कि उसमें मन-प्राण सब गले जा रहे थे।

शो-केस का मुआइना करते-करते पति एक जगह रुके—"वह लॉकेट तो निकालिएगा—उधर वाला, जिसमें मोती लगा है।"

मैंने पति को देखा। आज सहज कुछ नहीं था। सहज के अतिरिक्त जो होता है—एबनार्मल, वही था, जो पति पर हावी था। मेरा अन्तस फूटकर रो उठा—मुझे कुछ नहीं चाहिए। न कपड़ा चाहिए, न जेवर। तुम अपने को देना चाहो, तो दो। न देना चाहो, तो कष्ट न पाओ। मुझे इस तरह सजा न दो! पति के पाँवों में बिछकर मैं यही कहना चाहती थी। लेकिन मेरे ओठों को खोलकर जो शब्द निकले, वे थे—"नहीं-नहीं।"

मेरी वाणी पर पति जरा चमत्कृत हुए। पूछा—"क्या नहीं?"

"लॉकेट नहीं। मुझे जेवर नहीं चाहिए।"

"ले लेता हूँ—"

"मेरे पास हैं—बहुत हैं।"

"बहुत हैं, तो एक और सही।"

"नहीं।" मेरा मर्मस्थल फोड़कर यह स्वर निकला।

पति जरा चौंके। फिर हँसे—"कोई बात नहीं; फिर इसकी भी चिता जल जायगी।"

मेरा बाहर-भीतर एकाएक जड़ हो गया—सुन्न। और मैं चट्टान बनी खड़ी रही, कि सब कुछ वरण करना होगा और पति की उद्भ्रान्ति को झेलना होगा। लॉकेट ले लिया गया। केस में बन्द किया गया। मुझे दिया गया। पति ने कहा—"चलो!"

बाहर आकर पति टैक्सी में बैठे। मुझे भीतर लेकर दरवाजा बंद कर लिया। मैंने आराम के लिए अपना सिर पीछे टिका दिया। गाड़ी चली। पति ने कुछ कहा। और फिर वह गाड़ी चलती रही, न जाने कब तक चलती रही। मुझे लगा कि राह लम्बी है और कभी खतम होने वाली नहीं है।

कि राह खतम हुई। गाड़ी रुकी। उतरकर बाहर आयी, तो देखा पैरामाउंट होटल है। हमलोग अन्दर दाखिल हुए। ऊपर की मंजिल के एकान्त केबिन में आकर पति ने कहा—"बाथ ले लो, ताजा हो जाओगी। दिन-भर की थकान से चूर हो रही हो।"

थकान तो जरूर थी। तन भी थक चुका था और मन भी थक चुका था। लेकिन मेरी स्वतः की किसी चीज में अभिरुचि नहीं थी। मैं कुछ करने की स्थिति में नहीं थी, सिर्फ झेलने की स्थिति में थी।

जब हम दोनों ही ताजा होकर टेबुल के गिर्द बैठे, तो वेटर ने पूछा—"क्या लाऊँ ?"

"खाना लाओ !" पति बोले—"क्यों नीरू, खाना ही न ?"

मैंने उनकी ओर देखा और पलकें झुका लीं।

खाना आया और हमलोगों ने खा लिया। वेटर ने पूछा—"और कुछ सा'ब ?"

पति मुझे टक बान्धे देखते रहे। फिर बोले—"खाना तो हो गया, अब पीना हो।"

"क्या लाऊँ ?" ब्वाय ने पूछा।

पति बोले—"मैंने कभी पीआ नहीं। कोई अच्छी चीज लाओ !"

मैं ब्वाय की ओर हठात् मुड़कर बोली—"नहीं।"

ब्वाय रुक गया। पति ने आँखों से इशारा किया कि जाओ, कोई बात नहीं है।

मैं भरसक चीख उठी—"नहीं, ब्वाय, नहीं !"

पति ने मुझे अपनी ओर खींचा—"जाने दो !"

ब्वाय चला गया, तो मुझे लगा कि मेरे अन्तर से पिघलकर कंठों में कुछ आ अँटका है। थूक निगलकर मैंने कहा—"आप शराब पीजिएगा ?"

"क्यों, बुरी चीज है ?"

"हाँ, बुरी चीज है ।"

"आज देखना चाहता हूँ कि कितनी बुरी चीज है ।"

पति की वह बात मेरा मर्म बेध गयी। आज से छः साल पहले इसी होटल में, इसी कमरे में, मेरे बहुत इनकार करने पर भी राजन ने कहा था—'नीरू, शराब बुरी चीज जरूर है, लेकिन आज देख लो, कि वह कितनी बुरी है ।'

हाय! आज क्या अघट घटने को है!

शराब आयी। सोडा आया। बर्फ आयी। सब कुछ रखकर ब्वाय चला गया। मैं बुत बनी देखती रही।

उन्होंने एक साँस में गिलास खाली कर दिया। प्रतिरोध करना चाहकर भी मैं अवश बनी बैठी रही। उन्होंने दूसरा गिलास तैयार किया। उनकी आँखों में सुर्खी दौड़ गयी थी। मैंने कहा—"आप बहुत कष्ट पा रहे हैं?"

"कैसा कष्ट?"

"जरूर कष्ट है, जिसे शराब में भूलना चाहते हैं।"

वह मुस्कुराये—"भूलना नहीं, नीरू, याद करना चाहता हूँ। शराब बुरी इसलिए है कि वह आदमी का बुरा करती है। आज देखूँगा कि वह मेरा कितना बुरा करती है।"

मैं मर्माहत उनकी ओर देखती रही। उन्होंने तैयार गिलास को ओठों से लगाया। घूँट-घूँटकर तीन बार पीआ और फिर गिलास को परे रख दिया। अपनी जेब से नोट निकाले। सामने टेबुल पर रखकर बोले—"दो किताबों की रॉयल्टी कल मिली थी। रुपये मुझ पर भार बनकर पड़े थे। न जाने कैसे-कैसे ये खर्च हो जायँ! तुम इन्हें रख लो!"

रुपये रख लेने की ओर मेरा कोई आग्रह नहीं देखकर पति ने नोटों को ऐश-ट्रे के नीचे दबा दिया। मैंने नोटों को देखा। कितने

थे, अन्दाज न कर सकी। तीन-चार सौ से ऊँचे रहे होंगे। फिर मेरी आँखें उनकी सूर्ख होती आँखों पर ठहर गयीं। उन्होंने गिलास उठाया और ओठों से लगाया। फिर पूछा—"तुमने कभी शराब पी है नीरू ?"

"पी है।"

"लोगी ?"

"नहीं।"

वह मुस्कुराये और बेहोशी में मुस्कुराते रहे। मेरी आँखों में न जाने कब आँसू बन आये थे। वे ढुलक पड़े, तो मैंने आँचल से उन्हें पोंछ लिया। कहा—"लाइए, गिलास मुझे दीजिए !"

वह बोले नहीं, हँसते रहे।

मैं रो पड़ी और आँखों से झरकर आँसू झरने लगे। मैंने अनुनय किया—"आपको मेरी कसम है—"

वह मुझे देखकर गम्भीर हो गये। फिर उन्होंने गिलास छोड़ दिया। बोतल छोड़ दिया। और उसी प्रकार मेरे सिर के ऊपर ताकते रहे। पलकें थम गयीं। और वे थमीं पलकें बहुत देर तक न गिरीं, तो मैं अनाश्वस्त हो आयी। उठकर उनके पास आयी। रूमाल निकालकर पानी में भिगोया और उनकी पलकों पर हाथ डालकर रूमाल से ढाँक दिया। एक मिनट बाद अपने ऊपर से मेरे हाथों को टारते हुए उन्होंने कहा—"नीरू—"

मैंने उनकी आँखों में देखा कि बोलिए, क्या कहते हैं ?

उन्होंने धीरे से कहा—"तुम जाओ—घर जाओ—" और उन्होंने अपनी दोनों बाँहों के बीच अपना सिर लेकर टेबुल पर डाल दिया। उस पैरामाउंट होटल के उस कमरे में उस दिन मैंने अपने को परम असहाय अनुभव किया। रात के ग्यारह बज रहे थे। पति की वह अवश-विवश देह देखकर मैं पुक्का फाड़कर रो पड़ना चाहती थी।

ब्वाय अन्दर आया। टेबुल साफकर ले गया। फिर चारों ओर दुस्सह सन्नाटा छा गया। लगा कि सब कुछ को बान्ध कर समय ठहर गया है। और उस विस्तृत होटल में मैं अकेली हूँ—परम अकेली। उस दिन मैंने बहुत गहराई से अनुभव किया कि मुझे पुरुष के सहारे की जरूरत है।

वेटर ने आकर पूछा—"आप लोगों का बिस्तर—"

"वेटर, बिस्तर नहीं। टैक्सी है नीचे?"

"है।"

"हमलोग चले जायँगे। बिल मँगवाओ।"

और बिल आने पर मैंने दस-दस के दो नोट दिये। वापस क्या दिया गया, यह मैंने नहीं देखा। नोट सब समेटकर उनकी जेब में रख दिया और उन्हें उठाया। वह आधे होश में, आधे बेहोश मेरा सहारा लेकर नीचे उतरे। सबों की आँखें बचाकर हमलोग सीढ़ी की बगल से सड़क पर आ गये। टैक्सी में बैठाकर वेटर ने सलाम किया। गाड़ी चल पड़ी।

घर पहुँची, तो दरवाजा बाबू जी (ससुर जी) ने खोला। मैं गड़ आयी। क्षण-भर वह सम्भ्रम में देखते रहे। फिर एक ओर हट गये। मैं उन्हें लेकर अन्दर दाखिल हुई। उन्हें बिछावन पर लिटाकर खड़ी हुई, तो सामने माँ जी खड़ी थीं। वह एक साथ ही पूछ रही थीं—"कहाँ थी बहू?...कहकर क्यों नहीं गयी थी?....क्या हुआ है बाबू को?....खैरियत है न?...."

और उन सभी प्रश्नों के उत्तर में मेरी दुर्ज्ञेय व्यथा एकाएक बह आयी। मैं माँ जी की गरदन से लिपटकर बेतहासा रो उठी।

●

: ८ :

सवेरे उठी, तो देखा पति सो रहे हैं। दिन चढ़ आया था। बाहर कुएँ पर से बर्तन घिसने की आवाज आ रही थी। माँ बर्तन साफ कर रही थीं। शायद गुजरी नहीं आयी थी। खिड़की के बाहर लत्तरें फैली थीं। दीवार का सहारा लेकर ऊपर चढ़ गयी थीं और उनमें अब फूल लगे थे, एक ही लत्तर में कई रंग के फूल।

रात में मैंने पति को अपने ही कमरे में सुला दिया था, अपने ही बिस्तरे पर। जरा कमर सीधी करने को उनके पैताने लेटी, और फिर न जाने कब नींद आ गयी कि अब जाकर एकदम सबेरे टूटी। दर-वाजा खोलकर बाहर निकली, तो देखा, सामने राजन अपने कमरे के आगे चहलकदमी कर रहा है। मैं कुएँ की तरफ जाने लगी, तो उसने टोका—"जरा सुनिएगा!"

यह कदम-कदम पर टोकने वाला राजन अब कौन होता है मेरा? यह बात क्षण-भर के लिए मेरे मनमें आकर अँटकी। सो पैरों की गति भी थमी। और थमकर जब फिर गति में आयी, तो मैं राजन के कमरे में आकर रुकी। पूछा—"क्या सुनाना है?"

"कुछ पूछना था।"

"क्या पूछना था?"

"रात में क्या हुआ था?"

"सब बातों को जानकर रखो, यह क्या बहुत जरूरी है?"

राजन ने गहरी नजरों से मुझमें देखा—"मेरी बात तो नहीं थी न ?"

"नहीं।"

"छिपाने की बात नहीं है नीरू ! मेरी बात हो, तो स्पष्ट होनी चाहिए। मैं हूँ, इसलिए गलत-फहमी फैले, यह तो ठीक नहीं—"

"मैं हूँ, तुम हो, वह हैं, और लोग भी हैं। सभी हैं। लोग हैं, इसलिए गलत-फहमी है। लोग नहीं रहेंगे, तो गलत-फहमी किसमें फैलेगी ? किसे लेकर फैलेगी ?" मुझे लगा कि मैं स्पष्ट होना नहीं चाहती। और स्पष्ट नहीं हुई। राजन बात को पूरा न समझकर चुप रहा। लेकिन भीतर से उसमें खीझ भर आयी।

तब वह अपनी पलंग पर जा लेटा और आँखों के आगे एक किताब खोल ली। और ऐसा बन आया कि किताब ही है, और कुछ नहीं है। लेकिन मैंने देखा कि वह किताब तो है, लेकिन वस्तुतः वह है नहीं। कुछ और है, जो किताब के परे है, पार है। मैंने टोका—"तुम्हें जो कुछ सुनाना था वह हो गया ?"

राजन झुँझलाया—"कैसा सुनाना ?"

"तुमने जिसके लिए बुलाया था ?"

"माफ कीजिएगा देवी जी !" राजन ने किताब के भीतर ही नजर बान्धे रखकर कहा—"मैंने जो आपको बुलाया, सो गलती की। जाइए, अपना काम देखिए !"

राजन के कमरे के बाहर आकर मैं यही सोचती रही कि यह राजन अब मेरा मोह क्यों पाल रहा है ? नहीं, मोह नहीं पालना होगा। सब को काटना होगा। सब कटेगा, तभी जिन्दगी कटेगी। नहीं, तो जिन्दगी भार बनेगी और मुझे ही काटेगी।

मैं अपने कमरे में आयी और लिखा—

शान्ति दीदी को प्रणाम !

राजन जा रहा है। बीमार है। इसकी उचित देख-भाल का ख्याल रखना। तुम पर मेरा अगाध विश्वास है, इसी से यह भार तुम्हें सौंपती हूँ। इसके मन को कोई चोट न पहुँचे, देखती रहना।

तुम्हारी बहिन

निरुपमा

माँ जी नहाकर ऊपर पूजा-घर की ओर गयी थीं। राजन हाथ में कोई मोटी किताब लेकर बाहर बरामदे में चला गया था। मैंने राजन की सारी चीजें समेट दीं। ट्रंक भरकर, बिस्तर बान्धकर तैयार कर दिया। और उसके होल्डेल पर वह शान्ति दीदी के नाम की चिट्ठी और तीस रुपये के नोट राजन के सिगरेट केस से दबा कर रख दिया। फिर बाहर चली आयी कि नित्य-क्रिया से निवृत्त हो लूँ।....

नहाकर लौटी, तो देखा, पति जाग गये हैं और पलंग के सिरहाने तकिया से उठंगकर बैठे हैं। बैठे हैं और चुपचाप सामने दीवार की ओर देख रहे हैं। एक क्षण के लिए मुझपर उनकी नजर आयी और फिर लौट गयी। लौटकर फिर आयी, और तब मेरी आकृति पर से होकर नीचे उतरी और मेरे पाँवों के गिर्द बन्ध गयी और मेरी गति को निरखती रही। मैं इधर गयी, उधर गयी, आइने के पास गयी, ट्रंक के पास गयी और उनकी नजरों में बँधी रही।

तब मैंने उन्हें टोका—"उठिएगा नहीं?"

"उठा तो हूँ।"

"जाइए, निबट लीजिए, नाश्ता तैयार करती हूँ।"

"हाँ-आँ—"

मैंने उन पर फैली चादर ले ली और तह लगाकर एक ओर रख दी। और प्रतीक्षा में कई क्षण खड़ी रही कि वह उठें, तो बिस्तरे की सलवटें ठीक कर दूँ। लेकिन वह जैसे-के-तैसे बैठे उस तह की गयी चादर की ओर देखते रहे। उठे नहीं।

तभी बाहर सुना, ट्रंक उठाया जा रहा है, बिस्तर उठाया जा रहा है। फिर जूतों की चरमर आवाज हुई। कोई बगल के कमरे से निकलकर बाहर जा रहा था। मैंने पति की उँगलियों को थामकर खींचा—"उठिए न!"

वह उठे, पाँवों में स्लीपर लिया और कुएँ की ओर बढ़ गये। मैं रसोई घर में आकर काम में व्यस्त हो गयी। नाश्ता बनाया। बाबू जी के लिए नाश्ता रख आयी और फिर एक प्लेट लगाकर पति के पास पहुँची। वह पलंग पर अधलेटे थे और उनके आगे एक मासिक पत्र खुला पड़ा था। पड़ा था इसलिए कहती हूँ कि उनकी आँखें उस पर नहीं थीं। वह भीतर से शून्य, गम्भीर और अतल दीख रहे थे। मेरे पद-चाप से चौंके और मेरी ओर देखा।

मैंने पूछा—"नाश्ते के बाद चाय भी पीजिएगा?"

वह क्षणभर मेरी ओर देखकर बोले—"राजन—"

"माँ जी आती हैं, तो राजन के पास नाश्ता चला जायगा।"

"उससे पूछ लो, अगर वह चाय पीए—"

"आप अपनी बात कहिए। आप पीजिएगा?"

"मेरा क्या? घर के मेहमान के लिए बनेगा, तो मैं भी पी लूँगा।"

मैं बिना जवाब दिये खड़ी रही, उन्होंने पुकारा—"राजन!—राजन!"

उनका स्वर कमरे के बाहर गया और वायव्य में मिल गया। स्वर पर अवरोध डालकर कोई नहीं बोला। तब उनकी आँखों में स्वर भर आया—प्रश्न उभर आया। बोले—"कहीं गया है क्या?"

मैं जवाब में उलझना नहीं चाहती थी; बचना चाहती थी। इसलिए बात को अलग टालकर बोली—"चाय बना दूँ?....बना देती हूँ।" और फिर उस कमरे से बाहर निकल आयी।

माँ जी पूजा-घर से नीचे उतरीं तो राजन के कमरे में झाँककर देखा और संभ्रम में वहीं से पुकारा—"बहू—"

बहू! बहू से यही पूछा जायगा कि राजन कहाँ है? वह चला गया क्या? कब गया? और जिज्ञासा का कोई ओर-अन्त नहीं है। जिज्ञासा में होकर प्रश्न बनते हैं और बनते ही जाते हैं, जिन्हें उत्तर की अपेक्षा होती है। मैंने प्याले में चीनी दी, दूध दिया और चाय का तैयार पानी डालकर पति के कमरे की ओर चली। माँ जी ने टोका—"बहू, राजन—"

माँ के स्वर को मैंने अपनी पीठ पर छोड़ दिया और सायास स्वर ऊँचा कर बोली—"गरम दूध पीआ जाय, तो सेहत को लगे भी। यह चाय तो आँत को खराब करती है।" मैंने पति के आगे प्याला रखा और पूछ बैठी—"आप चाय छोड़ नहीं सकते?"

पति ने संभ्रम से मेरी ओर देखा—"क्यों, छोड़ क्यों नहीं सकता? मैं आदी तो हूँ नहीं।"

तभी माँ जी अन्दर आयीं—"कुमार, यह राजन चला गया क्या?"

पति की पलकें धीरे उठीं और मेरी आँखों में आ जमीं। मैंने सब कुछ को एक ओर टालकर कहा—"चाय ठंडी हो जायगी।"

उन्होंने चाय ओठों से लगायी और माँ से पूछा—"राजन नहीं है क्या?"

"है नहीं। न उसका सामान है और न बिस्तर—"

पति ने सुन लिया और चुप रह गये। चाय की प्याली हाथ में थम गयी। माँ जी ने कहा—"राजन के पलंग पर यह चिट्ठी थी

और ये नोट थे।" माँ जी चिट्ठी और नोट रखकर कुछ देर खड़ी रहीं। और जब उन्हें यह लगा कि कमरे का वातावरण धीरे-धीरे बहुत भारी हो गया है, तो आगे बिना कुछ बोले वह वहाँ से चली गयीं।

पति ने अपने हाथ का थमा प्याला एक ओर रख दिया। उड़ती नजर उस नोट और चिट्ठी पर डाली और पूछा—"तुम जानती हो?"

"क्या?"

"राजन कहाँ गया है?"

हठात् मैं बोली—"मैं सभी बातों को जानकर रखूँ, ऐसी क्षमता तो मुझ में नहीं है।"

पति ने एक लम्बी साँस ली और उसे क्षण-भर अपने भीतर बान्ध कर मुक्त कर दिया। तब वह मुस्कुराये, हँसे और भीतर-ही-भीतर हँसते रहे। फिर उठकर बाहर चले गये।

मैंने नोट पर से उस चिट्ठी को उठाकर देखा। शान्ति दीदी के लिए मैंने जो चिट्ठी लिखी थी, उसी के एक किनारे लिखा था—

तुमने जो कुछ दिया है, उसी का ऋण बहुत बड़ा है। और आगे लेकर बोझ कहाँ तक ढोता रहूँगा? दुनिया बहुत बड़ी है। सिर छिपाने को कहीं जगह मिल ही जायगी। तुम्हारी कृपाओं के लिए राजन का धन्यवाद!

मैं हाथ में वह नोट और चिट्ठी लेकर बैठी, तो फिर भूल गयी कि रसोई में आग जलाकर आयी हूँ।....

कई दिन ऐसे-ही वैसे निकल गये। इस बीच मुझे लगता रहा कि भीतर मैं कहीं अस्वस्थ हूँ। लेकिन भीतर की वह अस्वस्थता कहाँ है, क्यों है, पकड़ में न आती और मेरे बाहर प्रकट होती रहती। मैं

अधिक पति के विषय में और अपने विषय में सोचती रहती कि क्या हो रहा है यह सब ? और जब ऐसा ही होता रहेगा, तो क्या मैं चल सकूँगी ? ऐसे में चलना नहीं हो सकेगा। राह काटना होगा। और जिन्दगी की इतनी लम्बी डगर है कि....तब एकाएक जी बहुत भारी हो आता। लगता कि दिल डूब रहा है और मैं वह सब झेल नहीं सकूँगी।

पति ने नया कुछ लिखना शुरू कर दिया था। वह अपने को समेटकर कमरे में रखते। यों रखते कि किसी से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। और अगर है भी, तो वह दायित्व है, जो अपने आप निभता चल रहा है। मुझे लगता कि वह अपने को यातना दे रहे हैं। उनकी वह स्थिति मुझे पीड़ा देती।

लेकिन इस बीच उन्होंने क्या अपने को प्रकट किया ? नहीं, मुझसे मुस्कुराकर बोलते। हँसकर जवाब देते। कहते—'आज दस पृष्ठ लिखा।' 'आज पन्द्रह लिखा।' 'इच्छा है आज रात-भर लिखूँ।' 'लिखकर तुम्हीं को समर्पित करूँगा। इनकार तो नहीं करोगी ?....तुमने जब इंटर पास किया था, तभी मैंने तुम्हें पहली बार देखा था। तब मैंने एक किताब लिखी थी, तुम्हें प्रेजेंट करने को। लेकिन....'

उनकी हँसी मुझे बेधती, टीसती और सजल बना देती। बातें सुनकर मैं कभी चुप हो जाती। कभी जवाब देती। कभी पूछ लेती—'क्या लिख रहे हैं ?' तब कहते—'क्या लिखूँगा ? यों ही यहाँ-वहाँ की बातें हैं। उन बातों को ऐसे-वैसे जोड़ देना है कि उपन्यास बन जाय। किताब छपकर आयगी, तो देखना। पहला पृष्ठ खोलोगी, तो उस पर लिखा रहेगा—अपनी नीरू को, जिसे नहीं समझा।'

तब मैं बीच में ही बोली—"नीरू का क्या नहीं समझा है ?"

वह प्रश्न टाल गये और अपना प्रश्न ऊपर ले आये—"तुम्हें जो यह किताब समर्पित करूँगा, वह तुमको बुरा तो नहीं लगेगा ?"

मेरा अन्तर्मन तब रो उठा—"आप दीजिए और मैं उसका बुरा मानूँ, ऐसी अभागिन तो नहीं हूँ। लेकिन आप मुझे दें, ऐसा सौभाग्य भी अपना कहाँ देख रही हूँ!"

उस दिन यह कहते-कहते मन की सजलता पहले कण्ठ में आयी और फिर आँखों की राह अनायास बाहर आ गयी। और उसी तरह उनकी कुर्सी की पीठ थामे चुपचाप रोती रही।

वह अपने में सजग होकर बोले—"मैंने तो ऐसा कुछ नहीं कहा, जिसका दुख माना जाय!"

मेरा मन और पिघल आया।

वह पीड़ा के स्वर में बोले—"मैं जो कुछ कहता हूँ, जो कुछ करता हूँ, वह सब क्या दुख-ही-दुख है?—दुख ही उत्पन्न करने के लिए है?"

मेरा मन हाहाकार कर उठा—"नहीं—नहीं—" और अपने को उस कमरे से मैं बाहर ले आयी।

उसी दिन भैया को लिखा—माँ को देखने की इच्छा है। घर आना चाहती हूँ।

तीसरे दिन भैया आ गये।

माँ जी (सास) और बाबू जी (ससुर) से मेरे जाने के लिए उन्होंने आज्ञा माँग ली और मुझसे साँझ में तैयार होने के लिए कहा।

जब तैयार हुई, तो जी में आया कि पति से मिल लूँ। साँझ के प्राय अन्धकार में बैठे वह लिख रहे थे। कुर्सी की पीठ धरे मैं खड़ी रही कि उनका ध्यान टूटे, इधर ताकें, तो कुछ कहूँ, लेकिन वह लिखते रहे। जो कुछ उन्होंने लिखा था। मैंने एक बार उसे पढ़ लिया। पढ़ तो लिया, लेकिन मन में कुछ अँटका नहीं, रुका नहीं।

अचानक मुझे पीठपर महसूसकर उन्होंने सिर घुमाया और धीरे से कहा—"बैठो!"

मैं अनुवर्तिनी-सी सामने पलंग पर बैठ गयी। उनकी आँखों में प्यास थी, जो मुझे पी रही थी, भूख थी, जो मुझे खा रही थी। मैं यह चेष्टा कर रही थी कि न देखूँ कि कोई मुझे देख रहा है।

उन्होने पूछा—"भैया को चिठ्ठी लिखी थी?"

मैंने उनकी ओर नहीं देखा। जहाँ देखती थी, वहीं से सिर हिलाया कि हाँ।

"यहाँ जी नहीं लगता?"

जी तो सच नहीं लग रहा था। लेकिन जवाब क्या दूँ। यह सोच नहीं सकी। उत्तर न पाकर वह ही बोले—"लौटोगी कब?"

मैंने कंठ साफ किया—"लौट आऊँगी—"

उनका स्वर अधिक कातर और व्यथित हो उठा—"मुझे छोड़ देना चाहती हो?"

हाय! उन्होंने ऐसी कल्पना क्यों की? क्या सच मैं उन्हें छोड़ना चाहती हूँ? उन्हें छोड़कर इस अतल सागर में मैं टिकूँगी कहाँ—कहाँ टिकूँगी?

वह अलक्ष्य बोलते रहे—"यहाँ सुख नहीं है। मैं सुख नहीं ला सकता। दुख ला सकता हूँ। दुख ही ला सकता हूँ....।"

मैं अत्यन्त विगलित होकर बोली—"नहीं—"

वह आहत हँसे—" 'नहीं' असत्य है नीरू! मैं अपनी स्थिति जानता हूँ। मैं तुम में नहीं हूँ। अपने में भी नहीं हूँ। तुम्हें अपने में बाँधकर दुख दे रहा हूँ, सत्य यही है।" उन्होने अपना सिर कुर्सी की पीठपर डाल दिया और छत की ओर देखने लगे।

तब मैं और अधिक खड़ी नहीं रह सकी। उनके घुटनों में सिर डाल दिया—"मैं कहीं नहीं जाऊँगी।" और मेरी आँखों से अजस्र आँसू बहते रहे।

उनका कंठ अवरुद्ध था—"सब छूटेगा नीरू ! छोड़ना होगा ! छोड़ना होगा, इसका मोह होता है !"

मैंने उनके पाँवों को जोर से छाती में जकड़ लिया और उसी तरह रोती रही।

तभी भैया ने भीतर प्रवेश किया। मैं कमरे से बाहर निकल आयी। भैया कमरे में खड़े होकर वातावरण में फैली आँसुओं की बास को चुपचाप सूँघते रहे। फिर पलंग के किनारे बैठकर टोका—"कुमार !"

पति बोले नहीं। उसी तरह छत की ओर देखते रहे।

भैया ने फिर पुकारा—"कुमार !"

लेकिन कुमार की आँखें उसी तरह छत में टिकी रहीं। वहाँ उन आँखों में आँसू बूँद बनकर टिके थे और प्रकट होना चाहते थे। और कुमार थे कि उन्हें आँखों में ही छिपा लेना चाहते थे।

भैया निकट आये, तो पति ने आँखें बन्द कर लीं। लेकिन उन बन्द आँखों की कोरों से आँसू ढरक आये। भैया विमूढ़ भाव से आँसू की उन लकीरों को देखते रहे। फिर पलंग पर बैठकर किताब उठा ली और उसका पन्ना उलटने लगे।

कई क्षणों के बाद पति ने भैया की ओर देखकर कहा—"आप लोग अभी जा रहे हैं ?"

भैया कोई जवाब नहीं दे सके। ऐसा लगा कि वह उसी तरह प्रश्न को अपनने भीतर दुहरा रहे हैं और अपने को चुप रखे हैं। अन्धकार और सन्नाटा दोनों प्रगाढ़ होता गया।

भैया ने पुकारा—"नीरू !"

मैं अब तक अपने को सम्हाल चुकी थी। अन्दर गयी। वह क्षण-भर मुझे देखते रहे। फिर कुमार की ओर दृष्टि फेरकर मुझसे पूछा—"तुम्हारा जाना क्या जरूरी है ?"

मैंने दृढ़ भाव से कहा—"नहीं।"

"चलो छुट्टी है!" भैया ने सन्तोष की साँस ली—"कुमार, तुम्हें कुछ कहना है?"

पति हँसे—"तुम दोनों भाई बहिन मेरे साथ मजाक करते हो?"

"मजाक कैसा?"

"मजाक नहीं है?" नीरू को घर जाना है। माँ से भेंट करना है। उसकी इधर वहाँ तबियत अच्छी नहीं रहती। और तुम पूछते हो, जाना क्या जरूरी है? जैसा तुम्हारा प्रश्न, वैसा ही उसने उत्तर भी दिया कि 'नहीं'।" वह किंचित हँसे—"वह अभी नहीं जायगी, तो बाद को मुझसे झगड़ा करेगी कि तुमने ही रोक लिया। न भाई, ले जाओ अपनी बहिन को!"

भैया कुछ सोचकर बोले—"अच्छा, जायगी।"

मैंने बात काटी—"लेकिन—"

"लेकिन क्या?"

"यह बीमार हैं।"

"कौन? कुमार?" और भैया ने उनकी ओर देखा।

कुमार हँसे—"मेरी बीमारी क्या? मैं कब बीमार नहीं था? पहले भी था, अब भी हूँ, आगे भी रहूँगा। यह लिखने की बीमारी तो कभी छूटेगी नहीं। और तू रहेगी, मेरे लिखने में व्याघात उत्पन्न होता रहेगा। इसलिए भाई, कुछ दिनों के लिए हवा-पानी बदल आओ!" वह बड़ी खूबी से बात टाल गये।

उस दिन उस घर को छोड़ते समय बार-बार रुलाई आती रही और मैं रास्ते-भर रोती रही।

: ९ :

घर तो चली आयी, लेकिन यहाँ आकर मन सम्हला नहीं, और टूटता गया—और बिखरता गया। यहाँ चारों ओर स्वतन्त्रता थी, मुक्तता थी। पर यह मुक्तता मन को लगती। मैं चाहती कि मेरे चारों ओर बन्धन हो, कसाव हो—ऐसा कसाव कि ढीला छूटकर बिखरना नहीं हो। उस बन्धन में बन्धकर मैं अनुवर्तिनी बनी चलती और स्वतन्त्र की, निज की कुछ नहीं रहती। यही बन्धन क्या नारी को विवाह के बाद नहीं मिलता है ? मिलता है–जरूर मिलता है। विवाह बन्धन ही तो है। लेकिन यह बन्धन स्वीकार कर कितनी नारियाँ अपने को धन्य मानती हैं ? बन्धन समाज का है। बन्धन मन का भी है। मन नहीं बन्धेगा तो निवाह नहीं होगा। फिर विवाह का क्या अर्थ रह जाता है ? पुरुष और नारी सिर्फ पुरुष और नारी ही तो नहीं है ? वह पिता है, पति है, भाई है और यह माता है, पत्नी है, बहिन है, या और कुछ भी है, जो सम्बन्ध में है। और उस सम्बन्ध का मोह पालकर आदमी चलता है।....संसार ऐसे में ही चलता है। किसी को अपना मानकर चलने का आधार न हो, तो संसार में ऋजुता कहाँ रहे ? यों सब-का-सब कुटिलता है, बाँकपन है, जिसमें आदमी भ्रमता है और व्यथा पाता है।

लेकिन मैं अपने विवाह को क्या मानकर चलूँ ? यह विवाह, जो बान्धता है और कसता है, वैसा ही नहीं है। इसने बान्धा तो है,

लेकिन बन्धन नहीं रखा है और मैं असनद्ध ढीली पड़कर असहाय बन गयी हूँ। मन बार-बार हाहाकार करता कि ऐसा नहीं होना चाहिए।....नहीं तो होना चाहिए, लेकिन वह अनपेक्षित होकर भी है। है, तो क्यों है, और उस 'है' के बीच से निकलकर मुक्त हो जाऊँ, ऐसा कोई उपाय समझ में नहीं आता।....

नहीं, इसमें पति का कोई दोष नहीं था। सबके बीच में मैं स्वयं खड़ी थी। इसलिए अत्यन्त कातर और दीन बनकर रहती। भागने का मार्ग नहीं मिलता और मैं भीतर-ही-भीतर बिखरती रहती।

सोचा, खाली रहना ठीक नहीं है। भीतर रिक्त रहेगा, तो यों ही यहाँ-वहाँ की चीजें आकर भरती रहेंगी और मन को बेचैन करेंगी। इसलिए रिक्तता कहीं नहीं रहे और वहाँ स्वास्थ्य ही आकर भरे और मन को पुष्ट करे, इसके लिए फैलना होगा और फैलाना होगा। मन में सोचा—पढ़ूँ। कॉलेज में जी लगेगा? शायद लगे। घर में बन्धी नहीं रहूँगी। अनेक में फैलूँगी और बँटूँगी। लेकिन कॉलेज का खर्च?—पति? वह रोकेंगे नहीं। चुपचाप मान लेंगे। लेकिन चुपचाप मान लेना ही तो स्वीकार कर लेने का मापदण्ड नहीं है? और पिता के घर में अब मैं मेहमान हूँ। उन पर बोझ बनना क्या ठीक होगा? शायद हो....

भैया के सामने जाकर कुछ कहने का मनोबल नहीं था। मैंने एक चिटपर लिखा—'आगे पढ़ना चाहती हूँ। कॉलेज में नाम लिखाने की व्यवस्था कर दें।—निरुपमा'

पिताजी को चाय देने गयी, तो मैंने चुपचाप वह चिट उनके आगे छोड़ दी और वापस चली आयी।

भैया व्यवसाय के सिलसिले में कानपुर गये थे। उनसे मैं भीतर-ही-भीतर डरती थी। मेरे फिर से पढ़ने की बात पर जाने वह क्या सोचें। लेकिन उनके वापस लौटने के पहले ही मेरे कॉलेज जाने की व्यवस्था हो गयी।

भैया लौटे, तो बुलाकर पूछा—"एम. ए. करना जरूरी था ?"

मैंने सिर झुकाये ही जवाब दिया—"जी नहीं लगता था। सोचा, पढ़ती रहूँगी, तो कुछ हासिल कर लूँगी।"

"क्या लिया है ?"

"इतिहास।"

"यह इतिहास तेरा क्या बनायगा ?" प्रश्न ऐसे पूछा गया था कि उसे उत्तर की जरूरत नहीं थी और स्वयं व्यंजित हो रहा था कि बनायगा कुछ नहीं, बिगारेगा बहुत कुछ।

मैंने दबी जबान से पूछा—"वह क्या है, जो मेरा बनायगा ?"

भैया भौंचक मेरी ओर देखते रहे। फिर बोले—"अपना व्यवहार और विवेक आदमी को बनाता है।....तुम्हें चित्रकला से प्रेम नहीं है ? संगीत अच्छा नहीं लगता ?....जहाँ तक सीखने जानने का प्रश्न है, यह भी विद्या है—कला है। गृहस्थी में इसका उपयोग भी है और प्रयोजन भी।"

मैं अपने में अँटकती बोली—"गृहस्थी में मैं सीमित होना नहीं चाहती।"

भैया ने बहुत तीक्ष्ण होकर मेरी ओर देखा—"भटकना चाहती है ?"

"तकदीर में भटकना होगा, तो भटक लूँगी। और क्या पैसे के लिए अपने पाँवपर खड़ा होना भटकना है ?"

भैया चुप हो गये और कई दिनों तक चुप रहे।....

एक दिन घरके पते से आयी डाक देख रही थी कि एक लिफाफे पर नजर पड़ी। अक्षर पहचाने थे। लिफाफे पर भैया का नाम था। कई क्षणों तक लिफाफे को हाथ में लेकर पलटती रही—क्या होगा

इस लिफाफे में ? पत्र ? न जाने पत्र में क्या लिखा है ! पति ने मेरे पास कभी कोई पत्र नहीं लिखा था। वह लेखक हैं, अच्छा लिखते हैं। इतना अच्छा लिखते हैं कि अनेक किताबें बन आयी हैं, जिन्हें लोग चाव से पढ़ते हैं और कहते हैं कि खूब ही अच्छा लिखा है। लेकिन उस अच्छे लेख की एक भी पंक्ति मुझे नहीं लिखी गयी। मेरे और उनके बीच पत्र न आया। यह बात आज न जाने कैसी लगी कि मन दुखने लगा।

भैया का वह पत्र एक ओर रख दिया। अन्य पत्रों को देखा। कुछ पिताजी के नाम थे, कुछ भैया के नाम। लेकिन पति का वह पत्र मेरे मन को बाँधे रहा। क्या होगा उस पत्र में ? उस पत्र में क्या मैं कहीं नहीं हूँगी ? ऐसा कैसे होगा कि मैं कहीं नहीं होऊँ ? वह जो लिफाफा है, जिसपर भैया का पता है, और जिसे किसी कुमार ने लिखा है और जो चार समकोणों में आयत पड़ा है, उसके भीतर मैं ही हूँ, और कोई नहीं है—कोई नहीं है। और तब वह पत्र अनायास भाव से मेरे हाथों में उठ आया।

मैंने सावधानी से लिफाफा खोला और पत्र निकाल लिया—

प्रिय भाई,

आदमी जब यह महसूस करता है कि वह यथेष्ट नहीं है, तो अपने भीतर के उस इष्ट को पाने की चेष्टा करता है। इष्ट के पाने का यह प्रयास ही आदमी को जिन्दा रखता है। नहीं पायगा, तो आदमी अपने ही भीतर हीन होगा, गलेगा और छीजेगा। इसलिए सम्पूर्ण होने के लिए, समर्थ होने के लिए पाना बुरा नहीं है। आदमी को यथेष्ट बनकर रहना चाहिए।

नीरू समझती है कि वह यथेष्ट नहीं है, उसमें अपेक्षा है, तो वह सम्पूर्ण हो। इसमें मेरी इच्छा-अनिच्छा के प्रश्न का स्थान ही कहाँ रह जाता है ? वह अबोध तो है नहीं कि मुझसे पूछकर चलेगी, पूछ-

कर करेगी। और वह पढ़ती है, तो इसमें मेरे विरोध की गुंजायश कहाँ है ? बोलो न, कि है ?

माँ को मालूम नहीं हो कि नीरू ने फिर पढ़ना शुरू किया है, नहीं तो वह मेरा सिर खा जायगी। और यह कैसी बात है जी, कि बहिन पर शंका कर चलते हो ? तुम समझते हो कि यह नीरू भटक रही है ?

मैं ठीक चल रहा हूँ अथवा जैसा चल रहा है, वह ठीक ही है, ऐसा तो कुछ निश्चय बान्धकर नहीं कहा जा सकता। कुछ ऐसी चीजें होती हैं, जिन पर मेरा-तेरा किसी का किया कुछ नहीं चलता। वह सिर्फ होने के लिए होती है—रोध-अवरोध से परे। उसे वरेण्य मान-कर स्वीकार करना होता है। बस।

अभिन्न—

कुमार

पत्र में और कहाँ कुछ था ? मैं थी, बस, मैं। वह मैं, जो सम्पूर्ण नहीं थी, यथेष्ट नहीं थी। लेकिन मेरा इष्ट क्या है, जिसे पाने के लिए मैं भटक रही हूँ ? क्या सच मैं भटक रही हूँ ?

मैंने लिफाफे को सावधानी से साट दिया।

उस रात मैं सो नहीं सकी। यही सोचती रही कि मेरा इष्ट क्या है ? मैं क्या पाना चाहती हूँ ? और पाना भी चाहती हूँ कि नहीं ? कि यों ही भटक रही हूँ ? लेकिन वह बराबर यह बोध कराते क्यों रहते हैं कि मैं अबोध नहीं हूँ ? मैं पूछकर नहीं करती हूँ, इसका यह अर्थ तो नहीं कि जो करती हूँ, ठीक करती हूँ ? कुछ ऐसा भी तो कर सकती हूँ, जो बेठीक हो ? उसका विरोध तो होना ही चाहिए। लेकिन मैं जानती हूँ, वह विरोध नहीं करेंगे। विरोध करने की आदत उनमें नहीं है। स्वयं चुपचाप सह लेते हैं। क्यों सहते हैं ?—हाय ! क्यों ?....

धीरे-धीरे मैंने मान लिया कि जब पढ़ने को ठान लिया है, तो बस, पढ़ना ही है। पढ़ने के बाहर कुछ नहीं है। राजन ? न जाने वह कहाँ है ? कहीं भी हो, लेकिन मानना होगा कि वह नहीं है। कभी नहीं था।—क्या सच कभी नहीं था ?—था, तो होगा, जो अब व्यतीत हो चुका है। यौवन के आलोड़न में दमित वासनाएँ स्वप्न में साकार होती हैं और अपनी सम्पूर्ति भी पा लेती हैं। एक दिन सपने में मूर्त हुई उसी वासना की अभिप्सा की तरह राजन को भूलना होगा। सपना छल है, असत्य है। उस पर छाकर एक वस्तु पड़ी है, जो रूप, रस, गन्ध, स्वर, स्पर्श से संश्लिष्ट है, वह है पति !....

लेकिन ठहरिए। यह पति भी दुर्ज्ञेय, दुर्बोध और अरूप है और संस्पर्श से परे है। वहाँ भी स्वप्न-सरीखा ही उलझाव है, घुमाव है, विवर्त है। इसलिए विवर्त में अभी पड़ना नहीं है, पढ़ना है। इसी पढ़ने में अपने को पाना है, जिसमें इम्तहान है और इम्तहान में अपने को डालकर सफल निकाल लाना ही प्रगति है।

इस तरह मैं पढ़ने की ओर उन्मुख हुई और जमी रही। एक-एक कर नौ महीने बीत गये। गर्मी में कॉलेज बन्द हो गया। एक साथ ही दो महीने का अवकाश सामने आ खड़ा हुआ। एक दिन खाना खाते समय भैया ने माँ से पूछा—"छुट्टी में क्या निरुपमा ससुराल जायगी माँ ?"

माँ ने मेरी ओर देखकर मुस्कुरा दिया—"जायगी क्यों नहीं ?"

हठात् मेरे मुँह से निकला—"नहीं।" इस 'नहीं' पर मैं स्वयं चमत्कृत हो आयी। ऐसा उत्तर दे डालने को सोचा नहीं था। यहाँ उत्तर मुझे सुनना चाहिए था, स्वयं उत्तर बनना नहीं चाहिए था, यह मैंने महसूस किया। देखा कि माँ की मुस्कुराहट थम गयी है और वह मेरे उस 'नहीं' को मुझमें ढूँढ़ रही है। भैया ग्रास मुँह में डाल चुके थे, लेकिन अचानक चबलाना छोड़कर मेरी ओर देख रहे थे।

उनकी आँखें पूछ रही थीं कि इस 'नहीं' का क्या अर्थ होता है निरूपमा ?

माँ ने तब कहा—"वहाँ हो आने में बुरा क्या है ? आठ-दस महीने हो गये। लोगों से भेंट-मुलाकात भी हो जायगी।"

मैंने कहा—"कॉलेज से ट्रिप जा रहा है, मैसूर।"

माँ ने डाँटा—"मैसूर जा रहा है, तो तेरा क्या ?"

"पिताजी से मैंने कहा था। उन्होंने कहा है, दो-ढाई सौ लगेंगे, हो आना।"

माँ तब पिताजी पर नाराज हो आयी—"उनका क्या लगता है ? उनका वश चले, तो वह तुम्हें सात समुन्दर पार भटकने के लिए भेज दें। सिर-चढ़े का ही तो नतीजा है !"

पिता जी की मैं एक ही बेटी नहीं हूँ। निर्मला दीदी भी हैं और छोटी भी है—अब बारह साल की है। लेकिन प्यार मैं ही लेती रही हूँ। प्यार पाने में मैंने जबर्दस्ती ही है। रोकर, रूठकर पाती रही हूँ और अधिकार जतलाती रही हूँ। माँ का उपालम्भ सुनकर मैं उठ आयी। भैया उसी तरह मुँह में अन्न का ग्रास रखे थाली में देखते रहे।

तब मैंने सुना, माँ बोली—"तुम तो कहते थे, यह कुमार नेक हैं। लेकिन यह निरुपमा ससुराल जाने से कतराती क्यों है ?"

भैया ने माँ की ओर देखा और जिस किसी तरह मुँह का ग्रास निगल लिया।

माँ ने पूछा—"यह झगड़ा करके तो नहीं आयी ? वहाँ अच्छा सलूक नहीं रहता है क्या ?"

भैया चुपचाप दाल से भींगी उँगलियों से थाली में अस्पष्ट लकीरें खींचते रहे और काट-काटकर देखते रहे।

क्षणेक रुककर माँ बोली—"इस बीच कुमार बाबू भी यहाँ नहीं आये।"

भैया ने प्रश्न सुन-भर लिया।

माँ ने तब खीझकर पूछा—"तुमने आने को लिखा नहीं था?"

भैया ने संक्षिप्त उत्तर दिया—"लिखा था—"

"क्या जवाब दिया उन्होंने?"

"लिखा है कि छुट्टी नहीं है।"

"क्या करते हैं कि छुट्टी नहीं है?"

"लिखते हैं।"

माँ जैसे भीतर से जलकर बोली—"लिखते हैं! रोज तो यही सुनती हूँ कि लिखते हैं! लेकिन लिखकर कहाँ देखती हूँ कि सोने का महल खड़ा कर लिया!"

भैया चुपचाप थाली पर से उठ गये।

माँ उसी झुंझ में भरी वहाँ से उठकर मेरे पास आयी—"इन दस महीनों में कुमार यहाँ क्यों नहीं आये?"

मैं हँस पड़ी—"क्यों नहीं आये—"

माँ क्रुद्ध हो उठी—"हँस मत, जवाब दे!"

"उन्हें छुट्टी नहीं रहती है।"

"क्या एक-दो दिन भेंट करने की भी छुट्टी नहीं रहती है?"

"नहीं।"

"तुमने आने के लिए कभी नहीं लिखा?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं लिखा?"

"लिखती, तो वह सब लिखना-पढ़ना छोड़कर चले आते।"

माँ को विश्वास नहीं हुआ—"या झगड़कर आयी है?"

"वह झगड़ा नहीं करते माँ!" और न जाने क्यों मेरा कंठ एकाएक भर आया। मैं विगलित हो आयी और दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

माँ ने अपने भीतर थमकर मेरी ओर देखा और सशंक स्वर में पूछा—"तब बता, फिर क्या बात है?"

मेरा स्वर भीग आया—"बात कुछ नहीं है माँ! आदमी का अपना मन—" आर्द्र कंठ अवरुद्ध हो गया और मैं वहाँ से टल गयी।

साँझ में पिता जी टहलकर लौटे, तो माँ हठात् उनसे झगड़ पड़ी—"लड़की को मैसूर भेज रहे हो?"

पिता जी माँ के अकारण क्रोध को न समझकर हँसे—"भेज कहाँ रहा हूँ? वह तो जा रही है।"

माँ उसी तरह क्षिप्र रही—"जा रही है! मैसूर जा रही है, जापान जा रही है, इंगलैंड जा रही है! भाड़ में जा रही है!"

पिता जी माँ की मुद्रा पर मुस्कुराते रहे—"भाड़ में कहाँ जा रही है?"

"भाड़ में भी जायगी, तब भी क्या तुम रोकोगे? और झोंक दोगे। कहोगे, दो-ढाई सौ लगेंगे, चली जा भाड़ में!" माँ सनद्ध आवेश में बोलीं।

पिता जी जरा गम्भीर हुए—"भाई, बात क्या है, समझ में भी तो आवे!"

"तुम्हारी समझ में नहीं आयगी।"

"जो बात समझ में नहीं आयगी, उसके लिए माथा-पच्ची करना बेकार है।"

"हाँ, बेकार ही है।"

"—तो किसी से कहो, चाय लावे।"

पिता जी साँझ में टहलकर आते हैं, तो चाय लेते हैं। उन्हें चाय समय पर मिल जाय, इसका जिम्मा मेरे ऊपर था। पिता जी ठीक सात बजे आते। चाय के लिए दस मिनट रुकना भी गवारा नहीं था। इसलिए चाय का सामान सात बजे तैयार रहता। मैं चाय तैयार-

कर पिता जी के पास ले आयी। उन्होंने एक नजर मुझे देखा और चाय का प्याला ओठों से लगाया। फिर चाय से उठकर ऊपर आती भाप को हलकी-सी एक फूँक मारी और एक चुस्की लेकर पूछा—"तुम दोनों माँ-बेटियों में आज झगड़ा हुआ है?"

पिता जी ने चाय में ही देखकर यह पूछा था। वह प्रश्न किससे पूछा गया था, समझ नहीं सकी—माँ से, कि बेटी से।

माँ फूट पड़ने के लिए तैयार बैठी थी—"झगड़ा क्यों होगा? सींग तो नहीं फूटी—"

पिता जी किंचित हँसे—"सींग जानवरों को होती है। और जानवर लड़ते हैं, तो सींग फूटती नहीं, टूटती हैं।"

अपनी बातों को परिहास में उड़ता देख माँ क्षुब्ध हो उठी। वह कोई तीखी बात कहने जा रही थी, लेकिन मुझे देखकर चुप रह गयी। आगे कोई बात नहीं हुई।

जब मैं चाय का सामान उठाकर वापस ले आयी, तो पिता जी बोले—"निरुपमा के मैसूर जाने में क्या बुराई है?"

माँ का आक्रोश अभी कुछ शेष था—"बुराई है या नहीं, यह मैं नहीं जानती। लेकिन लड़की बस यहाँ-भर की ही तो नहीं है? वह ससुराल की भी है। उसे ससुराल जाना चाहिए या मैसूर?"

पिता जी बोले—"कहाँ जाना चाहिए, यह तो निरुपमा ही बतला सकती है। उससे पूछा था?"

"पूछा था, तो बोली—कॉलेज से ट्रिप जा रहा है, मैसूर।"

"इसीलिए मैंने कहा था कि हो आवे। उधर से बम्बई होकर लौटेगी और वाल्टेयर में भाभी से भेंट कर लेगी। बुरा तो नहीं रहता।" पिता जी ने जिज्ञासु भाव से माँ की ओर देखा।

भाभी की बात मैं बतला दूँ। भाभी चार वर्षों से वाल्टेयर में ही थीं— सिनेटोरियम में। शादी के बाद उन्हें सांघातिक न्यूमोनिया हुआ।

न्यूमोनिया अच्छा हुआ, तो डाक्टरों ने बतलाया—प्लूरेसी हो गया है। इलाज चलता रहा। बाद में एक्सरे की तजवीज में आया कि टी. बी. की आशंका है। भाभी तब से वाल्टेयर अगोरे बैठी हैं। अब बहुत कुछ सुधार हो गया है और स्वस्थ हैं।

तभी भैया की आवाज बाहर सुनाई पड़ी—"माँ, देख, कौन आया है?"

मैंने झाँककर देखा, भैया कुमार को पकड़ लाये थे। न जाने क्यों कलेजा धक-से रह गया। पति ऐसा लगते थे, जैसे बहुत दिनों से बीमार रहे हों। कमरे में आकर उन्होंने पिता जी और माँ के चरण छूए और फिर वैसे ही, जैसे कहीं अनजान जगह में भटक आये हों, खड़े रहे। भैया ने एक कुर्सी लाकर पीछे कर दी और कन्धे से पकड़-कर बैठा दिया। माँ से बोले—"अब जो कुछ पूछना हो, इन्हीं से पूछ लें। अभी लौट रहा था, तो भारती-मन्दिर में इन पर नजर पड़ी। रॉयल्टी के रुपये लेने आये थे—सक्सेना के साथ। उसी ने मुझे पुकारा। अन्दर गया, तो देखा, हजरत भी बैठे हैं। पकड़कर ले आया। आते ही नहीं थे।"

भैया जैसे आये थे, उल्टे पाँव वैसे ही लौट गये। इस अकस्मात के लिए न पिता जी तैयार थे और न माँ ही। तीनों उस कमरे में बैठकर चुप हो आये। वातावरण में कुछ अँटकाव आ पड़ा—सर्प-गति से चलते समय ने कुंडली मार ली कि अब न चलेगा और न फुफ-कारेगा। ऐसे में वातावरण बहुत दुस्सह हो उठा। तो पिता जी बोले—"अभी कुमार, तुम्हारी ही चर्चा हो रही थी।"

"मेरी?" पति इतना ही बोले।

"अभी निरुपमा की चर्चा छिड़ी थी। वह मैसूर जाने को कहती है।" पिता जी ने आग्रहपूर्वक कुमार की ओर देखा और कहते रहे—

"लेकिन उसकी माँ का कहना है कि लड़की का बस घर-भर ही तो नहीं है ? ससुराल भी है।"

पति अनायास कह बैठे—"ठीक ही तो है।"

"क्या ठीक है ?"

"—कि मैसूर जाना चाहती है।"

"—तो उसके जाने में तुम्हारा एतराज नहीं है ?"

पति हँसे—"एतराज क्या होगा ? हिस्टोरिकल ट्रिप है। जानकारी की बहुत-सी बातें देखने को मिलेंगी। ऐसा मौका तो बार-बार आता नहीं।"

पिता जी ने हामी भरी—"उधर से बम्बई होकर लौटेगी। भाभी से भेंट भी हो जायगी।"

"ठीक तो है। इससे एकरसता भी मिट जायगी।"

माँ को यह चर्चा अच्छी नहीं लग रही थी। वह बोली—"तुम्हारी सेहत अच्छी नहीं देख रही हूँ। बीमार थे क्या ?"

कुमार ने जवाब नहीं दिया। सिर्फ मुस्कुरा दिया।

माँ ही बोली—"सेहत क्या खाक अच्छी रहेगी ! कोई ठीक समय पर खाना देने वाला भी हो—"

माँ की यह बात सीधे मेरे मर्म पर लगी। कौन है उनको ठीक समय पर खाना देने वाला ? माँ जी अब बूढ़ी हुईं। उनसे क्या सब किया पार लगता होगा ? ऐसे में आदमी बीमार न होगा, तो क्या होगा ? मैं भी क्या हूँ ? पत्नी का क्या यही कर्त्तव्य है ? फिर भी वह मुझे लेकर झेलते हैं। क्यों झेलते हैं ? मेरे कर्म-अपकर्म सब को स्वीकार कर लेते हैं। मेरे मद्रास जाने का वह विरोध नहीं कर सकते थे ? कर देते, तो क्या मैं उसका बुरा मानती ? सेहत बिगरती जा रही है और ध्यान नहीं देते हैं। मेरा अन्तस अजाने भाव से भींगता गया।

तभी माँ ने पुकारा—"नीरू !—नीरू !—निरुपमा !"

मैंने जवाब नहीं दिया।

कि देखा माँ सामने खड़ी है—"देख तो पगली को, यहीं खड़ी है और बोल नहीं रही है। देख बेटा, तू खुद जाकर नाश्ते का इन्तजाम कर ले। बिट्टो की अम्मा पर छोड़ेगी तो न वह नाश्ता कर सकेगी और न खाना।" माँ उधर जाने के लिए मुड़ी और जाते-जाते एक क्षण के लिए रुकी। हँसकर बोली—"या कुमार को यहीं भेज दूँ ?"

मैं चुपचाप रसोई घर की ओर चली।

आध घंटे बाद लौटी, तो देखा मेरे पढ़ने वाले कमरे में पति खड़े हैं और दीवार से लगी मेरी तस्वीर को टक बान्धे देख रहे हैं और तन्मय हैं। मैंने नाश्ते का प्लेट इस अन्दाज से रखा कि उस तन्मय बने प्राणी को आभास मिल जाय कि कमरे में कोई है।

प्लेट की आवाज से पति चौंके और मुड़कर देखा। ऐसे देखा कि बोल पड़ना चाहते हों—अरे नीरू तुम! और वह खड़े-खड़े निहारते रहे कि आँखों की राह वह मुझे भीतर उतार लेंगे। उनमें भीतर कहीं आह्लाद फूट आया था, आकृतिपर उसीका प्रकाश फैला था। उनके सामने मैं ठगी-सी खड़ी रही और एकदम से कुछ बोल नहीं सकी।

उन्होंने भर-नजर मुझे देखा और फिर उस दिवार से टँगी तस्वीर की ओर मुड़कर कहा—"यह तुम्हारी तस्वीर अच्छी आयी है। किसके यहाँ बनवायी ?"

तस्वीर अच्छी है! हुँः! मैं अपने भीतर उत्कट हो उठी—"तस्वीर तो अच्छी रहेगी ही। आपको तस्वीर ही अच्छी लगती रही है—जंगलों की, पहाड़ों की, रेगिस्तानों की। सो न हुई यह किसी दृश्य की तस्वीर। निरुपमा की तस्वीर हुई। बस! लेकिन यह तस्वीर अच्छी हो या बुरी, आपके किसी काम आयगी तो नहीं।....नाश्ता ले आयी हूँ।"

उन्होंने नजर फेंककर प्लेट की ओर देखा और मुझे एकदम नहीं समझकर चुप बन आये और टेबुल के एक किनारे से टिककर खड़े रहे।

मैंने टोका—"नाश्ता है।"

"है तो—"

"कीजिए न !"

उन्होंने ऐसे देखा कि नाश्ता है, तो हो जायगा, उसके लिए उतावली क्या है ?

मैं बोली—"बैठिएगा नहीं ?"

वह कुर्सी लेकर बैठ गये।

उनकी नजर फिर मुझपर आ टिकी। मुस्कुराकर बोले—"मेरी नजर तो तुम्हें नहीं लगेगी ?"

"लग भी जाय—"

"तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा हो आया है।"

"अपना देखा है ? आइने में शकल देखिए, तो पता चले।"

वह जोर से हँस पड़े—"मेरी शकल की भी खूब कही। मेरी भी कोई शकल है !" और उन्होंने नाश्ते का प्लेट अपनी ओर खींच लिया—"तुमने बनाया है ? भाई, तुम खाने की चीजें बनाती अच्छी हो।"

उन्होंने मुस्कुराकर बर्फी उठायी और कहा—"इधर आओ !"

"आप नाश्ता कीजिए न !"

"तुम इधर तो आओ !"

मैंने उनका उद्देश्य समझकर भी पूछा—"क्यों आऊँ ?"

"क्यों क्या ? बस आ जाओ !"

मैं पलंग की पाटी से अँटकी खड़ी थी। वहीं से इसरार में मैंने सिर हिलाया कि नहीं आती।

वह बहुत मधुर हो आये—"आओ भी !"

मैं ऐसे खड़ी रही कि—मैं नहीं आती, जिसे आना हो खुद आ जाय।

और वह सचमुच उठ आये। हाथ की बरफी मेरे मुँह के पास लाकर बोले—"खा लो !"

उनका हाथ अपने हाथ में थामकर मैं बोली—"मैंने अभी खाया है। आप खाइए न !"

"अरे खाओ, आज यह बरफी बहुत मीठी है।"

"आपने चखा नहीं, कैसे जानते हैं कि मीठी है ?"

"है मीठी, चखो तो—" और उन्होंने जबर्दस्ती करना चाहा।

मेरा अन्तर पुलक से भर आया। उस दिन न जाने क्यों बहुत इसरार करना चाहती थी। उनके आगे से मुँह एक ओर फेरकर कहा—"नहीं।"

"नहीं ?" और उन्होंने गरदन के पास से मुझे पकड़ लिया।

मैं इषत् नाराज हो आयी—"क्या बच्चों की तरह करते हैं ?"

और उन्होने जबर्दस्ती मेरे मुँह में बरफी भर दी।

वह अपनी कुर्सी पर लौटते हुए बाले—"मीठी नहीं है, तो फेंक दो !"

सच, उस दिन बर्फी बहुत मीठी थी। मैं धन्य थी, कृतार्थ थी। एकाएक इतनी सारी मधुरता छाती में समा नहीं रही थी और मन गद्‌गद होकर रस से भींगता जा रहा था।

पति तब सहसा एकाग्र हो उठे और मनोयोगपूर्वक खाने लगे।

मैंने पूछा—"बीमार थे ?"

उन्होंने सिर हिलाया—"क्या सच बीमार लगता हूँ ?"

"नहीं तो तन्दुरुस्त लगते हैं ? कैसी तो सेहत बना ली है !"

उन्होंने एक फूली कचौड़ी को फोड़कर उसमें बरफी का चूड़ा भर लिया और एक साथ ही समूचा मुँह में डाल लिया और भरे मुँह से कुछ बोले, जो समझ में नहीं आया।

उन्होंने नाश्ता किया। हाथ धोया। और भींगे हाथों को लेकर इधर-उधर कुछ देखने लगे। तौलिया वहाँ नहीं था। मैं मुड़ी कि तौलिया ला दूँ। उन्होंने टोका—"कहाँ चली ?"

"तौलिया—" और मैं आगे बढ़ी, तो आँचल में पीछे से खिचाव आया। मुड़ी, तो देखा, पति ने आँचल पकड़ रखा है और अब वह मुस्कुराते हुए मेरे आँचल में ही हाथ पोंछ रहे हैं।

मैं ठगी-सी उनके इस व्यवहार को मुग्ध देखती रही।

शिशु को माँ के आँचल की जरूरत होती है। पुरुष को किसी प्रेयसी के आँचल की जरूरत होती है। नारी का आँचल! यह आँचल सृष्टि के एक छोर से दूसरे छोर तक ऐसा ऊपर-ऊपर लहरा रहा है—जिसके नीचे माधुर्य है, स्नेह है, प्रेम है, वात्सल्य है। आओ हे पुरुष, इस आँचल की छाया में—स्नेह की डोर में बन्धो! इसी भाव से मैंने पति की ओर देखा। मैं मीठा नाराज होती बोली—"यह कैसी शरारत है!" और मैं आँचल झटककर आलमारी की ओर बढ़ी। इलायँची की डब्बी निकालकर बोली—"लीजिए, इलायँची लीजिए!"

उन्होंने ले ली।

उनमें आदत किसी चीज की नहीं है—न पान की, न चाय की, न सिगरेट की। लेकिन परहेज किसी चीज से नहीं। सिगरेट से परहेज करते हैं। इलायँची लेकर वह पलंग पर अधलेटे-से पड़ गये।

मैं पैताने बैठती हुई बोली—"इन दस महीनों में आपसे इतना भी नहीं हुआ कि कुछ लिखते ?"

वह तत्परता से बोले—"लिखा तो है!"

मैं आक्रोश से भर उठी—"क्या बात बनाते हैं ?"

उन्होंने कहा—"बात नहीं नीरू ! सच, लिखा है—दो उपन्यास लिखे हैं। छप रहा है। छपकर आयगा, तो विश्वास करना होगा कि मैं बैठा नहीं था, लिखता था।"

लिखता था। हुँः ! लिखने का माने क्या उपन्यास लिखना ही होता है ? पत्र लिखना नहीं होता ? मैं मान से भरकर बोली—"मोटी-मोटी किताबों के बीच से इतना समय नहीं निकाल सकते थे कि निरुपमा के लिए भी आप दो अक्षर लिख देते ?"

"जो लिखा है, वह तुम्हारा ही तो है।" पति विनीत होकर बोले।

"होगा मेरा,—लेकिन आप पत्र नहीं लिख सकते थे ?....समाचार तो लिख ही सकते थे।"

"हाँ जी, देखो तो सही, लिख तो सकता था—"

"लेकिन नहीं लिखा कि कोई अपना तो है नहीं, जिसे लिखा जाय—"

"वह बात नहीं है नीरू !"

"वही बात है।" और मैं एकदम से व्यथित हो आयी। कंठ भींग उठा—"मुझे अपना दुश्मन मानते हैं ?"

वह बोले नहीं। कातर दृष्टि से मुझे देखा और मुझमें देखते रहे। फिर धीरे-धीरे अँधेरा पड़ते गये। उन्होंने अपने निचले ओठ को कई बार दाँतों के नीचे लिया और उसी प्रकार संवेदन-शील होकर मेरी ओर देखते रहे।

उन्हें उसी स्थिति में छोड़कर मैं बाहर चली आयी। बाहर देखती क्या हूँ कि उस कमरे की खिड़की से सिर टेके बिट्टो की अम्मा खड़ी है। शायद भीतर की बातें सुन रही थी। मैंने टोका—"क्या बात है चची ?"

वह सकपका गयी—"कुछ नहीं—कुछ नहीं बिटिया—" और वह वहाँ से जाने लगी। मुझे हँसी आ गयी—"जासूस कहीं की !"

मैं एकबार फिर कमरे में वापस गयी और जूठा प्लेट लाकर नल के पास छोड़ दिया और दाई को हिदायत दी कि प्लेट साफकर रसोई घर में रख दे। नहीं तो फूट भी जा सकती है।....

रात में भैया आये, तो जिज्ञासा की—"कुमार सो गया क्या ?"

मैंने भीतर कमरे में जाकर देखा, कुमार पलंग पर लेटे छाती पर एक मोटी-सी किताब खोलकर देख रहे हैं। मैंने उनसे कहा—"भैया खोज रहे हैं।"

पति ने अधमुँदी आँखों के बीच से पुतलियों को एक किनारे लाकर मेरी ओर देखा और मुस्कुराकर आखें बन्द कर लीं। उसका यही अर्थ था कि मैं जानता हूँ कि वह खोजते हैं। और खोजते भी हैं, तो क्या ?

तभी भैया की आवाज आयी—"कुमार!—कुमार! सो गये क्या जी ?" भैया ऊपर छत की ओर जा रहे थे। जाते-जाते ही उन्होंने पुकार लिया था। सीढ़ियों पर चढ़ने के पहले उन्होंने क्षण भर रुककर अपनी आवाज के प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा की। फिर बोले—"बहुत सवेरे सो गया!" और वह ऊपर चले गये।

मैंने पति के हाथों से किताब छीन ली और उपालंभ के स्वर में बोली—"भैया पुकार रहे हैं और आप चुपचाप लेटे हैं! अजब आदमी हैं आप!"

उन्होंने अपना निचला ओठ जरा बाहर फैला दिया और मादक ढंग से आँखें बन्द कर लीं कि—छोड़ो भी; पुकारते हैं, तो क्या ?

भैया एक-एक सीढ़ी चढ़कर ऊपर चले गये। उनका पद-चाप आना बन्द हो गया और कमरे में सन्नाटा छा गया। मैंने तब वहीं

अपने को एकदम से व्यर्थ महसूस किया। और उस प्रकार व्यर्थ हो आकर, पति के हाथ से जो किताब छीन ली थी, उसीके पन्ने पलटने लगी। फिर उस किताब में ही देखती बोली—"दूध है।"

उन्होंने सुन लिया और उसी प्रकार निश्चेष्ट पड़े रहे। फिर एकाएक तकिया के सहारे अपने को उत्थित किया। बोले—"गजब की गर्मी है!"

मैंने पंखे के रेगुलेटर की ओर देखा और उसे तेज कर दिया। वह जरा हँसे—"देखो इंसान को! इसने आग, पानी, लू-लपट सब पर कब्जा पाने की कोशिश की है। यह लोहे का पंखा बनाया गया है, जो बिजली से चलता है और हवा को चलाता है कि चले, रुको रहकर ऊमस पैदा न करे। है न नोरू!" उन्होंने मुझसे समर्थन चाहा जरूर, लेकिन अपेक्षा में ठहरे नहीं रहे। बोले—"लेकिन जो खुद गर्म है, वह चलकर भी गर्मी ही पैदा करेगी।....यहाँ तो सोना नहीं हो सकता!"

मैंने कहा—"छत पर तो और लोग सोते हैं—"

उन्होंने कहा—"तो मेरे सोने का क्या? एक दिन आँखों में ही रात काट लूँगा।"

इस पर मैं इधर-उधर ढूँढ़ती रही कि क्या बोलूँ। कि देखा शीशे के गिलास में तिपाई पर दूध पड़ा है। मैं उसे पति के पीने के निमित्त ले आयी थी। मैं बोली—"दूध पी लीजिए।"

उन्होंने झुककर तिपाई पर से दूध उठा लिया और घूँट-घूँटकर दूध पीकर गिलास खाली कर दिया। मेरे भीतर अप्रीतिकर लगा। क्या उस तिपाई पर से दूध का गिलास उठाकर देने में मेरा कोई उपयोग नहीं था? क्या यह कह नहीं सकते थे—लाओ, पी लेता हूँ। कि मैं देती और वह कृतार्थ भाव से ग्रहण कर लेते? लेकिन मुझे, मेरी उपस्थिति को यहाँ एकदम से निष्प्रयोजनीय, निरपेक्षित क्यों

बना दिया गया ? मैं तो खड़ी ही थी कि लो, नियुक्त हूँ, प्रयुक्त होने के लिए ही हूँ, प्रयोग करो ! पुरुष के पास क्या नारी निष्प्र-योजन बनने के लिए रही है ? नहीं, वह उपभुक्त बनने के लिए है कि आओ हे पुरुष, लो, पाओ और कृतार्थ बनो !

पति ने दूध पी लिया और खाली गिलास लेकर सुराही तक बढ़ गये। दो घूँट पानी पीआ और गिलास को वहीं तश्तरी में पलटकर बोले—"आज सोना नहीं होगा क्या ?"

लीजिए, मैं कहाँ बह आयी ? एकदम से बोल पड़ी—"हाँ—हाँ—" और मैं किताब एक ओर टेबुल पर टिकाकर उनका बिस्तर ठीक करने लगी। तकिया को एक किनारे रखते-रखते मेरे मन ने सोचा कि पुरुष को पत्नी का प्रेम भी मिलता है, स्नेह भी और वात्सल्य भी। पत्नी इसी में अपने को धन्य समझती है। फिर सब को काटकर माँ जी (सास) की आकृति सामने स्पष्ट हो उठी। मैंने सिर उठाकर पति से पूछा—"माँ जी अच्छी हैं ?"

"हैं।"

"मेरे ऊपर तो नाराज होंगी ?"

"क्यों ?"

"यहाँ आकर अपने मन की कर बैठी हूँ। किसी से कुछ पूछा भी नहीं—।"

"लेकिन माँ उसका बुरा क्यों मानेगी ?"

"न मानें, यह दूसरी बात है; लेकिन मानना चाहिए।"

"—कि तुमने बिना पूछे पढ़ना शुरू क्यों कर दिया ? यही न ?"

मैंने अतिशय गम्भीर होकर सिर हिलाया कि हाँ।

उन्होंने कहा—"पढ़ना मैं तो बुरा नहीं समझता। पढ़ने से इतना तो होता है कि आदमी समर्थ बन जाता है। अपना भला-बुरा सोच पाता है। और पढ़ने का यह अर्थ भी लिया जाय कि आजीविका को

मार्ग मिलता है, तो नारियाँ ही चूकें क्यों ? आर्थिक स्वतन्त्रता तो सब के लिए अच्छी है। नारियाँ पुरुष पर इसीलिए तो निर्भर हैं कि पुरुष से उन्हें आर्थिक बल मिलता है। और नीरू, पुरुष से प्राप्त यह बल क्या नारी की सबसे बड़ी दुर्बलता नहीं है ? इसी कारण नारी का सारा विकास रुका है।"

मैं उनकी ओर चुपचाप देखती रही कि एक दिन जाने-अनजाने ऐसा ही भाव मेरे मन में आया था और मैंने आगे पढ़ने का निश्चय किया था। लेकिन यह पुरुष मुझे अपने से अलग कर सदा स्वतन्त्र करने की बात क्यों सोचता है ? मैं बोली—"मुझे किसी भी तरह की स्वतन्त्रता नहीं चाहिए। बस, चाहती हूँ कि आपसे बन्धी रहूँ। स्वतन्त्र होकर दिशि-विदिशि चक्कर न काटूँ।"

उन्होंने अपने दोनों ओठों को इस प्रकार समेट लिया कि भीतर से कोई चीज फूटकर अब बाहर आ पड़ेगी—अब बाहर आ पड़ेगी। फिर वह बोले—"तो ऐसा करो कि पढ़ना छोड़ दो !"

"छोड़ देना ही चाहती हूँ।"

उन्होंने इस भाव से देखा कि ऐसा भी क्या मजाक है ! और उसी भाव से देखते रहे—"तुम्हारा चित्त तो ठिकाने है ?"

"चित्त ही ठिकाने होता, तो भटकती क्यों ?"

"—तो इस पढ़ने को तुम भटकना समझती हो ?"

"घर छोड़कर यहाँ पड़ी हूँ, यह भटकना नहीं है, तो और क्या है ?"

पति इस पर एकदम से चुप हो आये और खिड़की के बाहर देखने लगे कि—भाई, तुम अपनी बात आप जानो ! मैं तो अकिं-चन हूँ !"

खिड़की के बाहर नीबू और पपीते के पेड़ खड़े थे और उनके ऊपर ईषत् कृष्ण नीला आकाश फैला था। जिसमें बहुत सघन होकर

सितारे टँके थे। नीबू के पेड़ में जो फूल लगे थे, वे अब झड़ रहे थे और वातावरण में एक हलकी सुगन्ध बिखेर रहे थे। हठात् मैं बोली—"आप सभी लोग ठेल-ठालकर मुझे मद्रास भेज देना क्यों चाहते हैं?"

पति लौटे—"अयँ—"

"मैं सोचती हूँ, मद्रास जाना भी ठीक नहीं है।"

"अच्छा!"

चारों ओर के लगाव को एकदम से काटकर सपाट बना देने वाले इस 'अच्छा' पर मैं उत्क्रुद्ध हो आयी—"मैं जो कहती हूँ, वही ठीक है? आप कुछ नहीं हैं?"

वह हँसे—"कुछ कैसे नहीं हूँ? लोग जानते हैं—मैं कुमार हूँ, लेखक हूँ और—"

हाय! न जाने यह किस धातु के बने हैं कि इनसे टकराकर पत्थर भी फूल बन आता है! मैं अपना क्रोध व्यर्थ बनता देख विगलित हो आयी। अपनी दुर्बलताओं के प्रति मैं बहुत मार्मिक, बहुत करुण हो उठी। अन्तस भीग आया—आप केवल कुमार-भर ही हैं? जो लेखक है और पाठकों पर फैला है? उसके बाहर क्या आप एकदम से कुछ नहीं हैं? जो मुझे भटकने न दे? जो मेरी बाँह पकड़कर घेरता चले, टोकता चले कि नीरू, यह नहीं, वह नहीं;—यह।"

बात यह हुई कि यह सब मैंने कहा नहीं। यह मेरे मनमें उठा कि कहूँ। लेकिन कहा तो यह कि—"आप बात बहुत बनाते हैं।"

"बनाता तो हूँ नीरू, लेकिन बनती एक भी नहीं।" और उन्होंने मेरी आँखों में देखकर एक लम्बी साँस ली।

फिर तो चारों ओर से चुककर बात खतम हो गयी। उन्होंने किताब खींचकर अपनी गोद में रख ली और पन्नों को पलटा। मानो बात नहीं है तो क्या? किताब तो है।

मैं पलंग के पैताने बैठी थी। अपने को भीतर एकदम रिक्त पाकर वहीं छाती के बल लेट गयी। भगवान! इसी तरह कब तक रिक्त होती रहूँगी!

न जाने कब तक उसी प्रकार लेटी रही। तब पति ने मुझे उठाकर एक ओर आराम से लिटा दिया और सिर के नीचे तकिया रख दिया। मैं उसी तरह छाती के बल लेटो न जाने कब सो गयी।....

कहानी खींची जायगी, तो बहुत बढ़ेगी और फैलेगी। फैलाव में बहुत-सी चीजें आ जाती हैं, जिन्हें गिन-चुनकर रखना मुश्किल हो जाता है। मेरे जीवन के उस फैलाव में कहाँ क्या आ पड़ा, उन सबों को बान्धकर रखा भी तो नहीं जा सकता था? इसलिए फैलाव में अपने को क्यों डालूँ? बस यही समझिए कि जो कुछ मन में बान्धकर रखा था, वह बन्धा नहीं रहा। पति पाँच दिनों तक वहाँ रहे और फिर एक दिन साँझ में बाहर निकले, तो वापस लौटकर नहीं आये।

मैं उनकी प्रतीक्षा भी कर रही थी और रसोई में उलझी भी थी कि बिट्टो की माँ पीठे की खीर खराब न कर दे। तब मैं अपने पढ़ने वाले कमरे में एक किताब खोलकर आ बैठी कि वह आवें और मैं खिला-पिलाकर छुट्टी पा लूँ। माँ ने भीतर झाँककर देखा—"कुमार लौटे नहीं नीरू?"

मैं कुछ बोली नहीं। घड़ी की ओर देखा—काँटे नौ बजाकर चालीस मिनट आगे थे। मेरे मन में उत्कटता आ भरी—कोई नहीं आयगा, तो घड़ी दस नहीं बजायगी? ग्यारह नहीं बजायगी? रुकी तो वह रहेगी नहीं! और मैं ऐसी ही उत्कटता अपने मन में थामे किताबों की ओर देखती रही।

ग्यारह बजे भैया आये। माँ से पूछा—"कुमार ने खा लिया क्या माँ ?"

"वह तो अभी तक आये नहीं।" माँ ने किंचित चिंता प्रकट की।

भैया कुछ देर चुप रहे। फिर बोले—"कहो, खाना लावे।" वह आसनी पर ऐसे बैठे कि-कुमार का क्या ? वह नहीं भी आ सकता है।

भैया खाना खाकर जब ऊपर चले गये, तो बिट्टो की माँ ने आकर मुझसे कहा—"माँ जी रसोई में खाने को बैठी हैं। बुला रही हैं।"

मैंने किताब से बाहर सिर नहीं उठाया। बिट्टो की माँ कुछ देर खड़ी रहकर चली गयी। मेरे मन में बस एक ही प्रश्न बार-बार बन-कर उठता था—क्यों नहीं आये वह ? क्या चले गये ? कहकर जा नहीं सकते थे ? कोई उन्हें बान्धकर तो नहीं रख लेता ! या—

कि माँ अन्दर आयी—"वह तो लौटे नहीं नीरू, चलकर खाले !"

मैंने हाथ की किताब बन्दकर एक ओर रखते हुए कहा—"तुम खा लो माँ !"

"और तू !"

"भूख नहीं है।"

"नहीं कैसे है ? अब वह बारह बजे तक नहीं आवें, तो लोग क्या करें ? इन्तजार में भूखों रहना तो ठीक नहीं !" माँ कुछ कठिन होकर बोली।

मैं न जाने क्यों नाराज हो उठी—"मैं किसी का क्यों इन्तजार करने चली ? बस, अपनी भूख नहीं है।"

"यहीं भिजवा देती हूँ। जब भूख लगे, तो खा लेना।" कहकर माँ चली गयी।

तब एकाएक मेरे भीतर ऐसा उठा कि मुझसे कुछ विनष्ट होना ही चाहिए—टूटना ही चाहिए। नहीं तोड़ूँगी, तो खुद टूटना पड़ेगा।

इसलिए लो हे ! मुझसे बनेगा नहीं, टूटेगा ही। तुमने तोड़ने के लिए उत्थित किया है, तो लो भोगो !

और मैं ऐसी सनद्ध उठी कि घर को जिन तोरण-वन्दनवारों से सजाया गया है, उन्हें नोच-चोथकर फेंक दूँगी, तभी चैन मिलेगा।

मैंने आवश्यक सामान छोटे ट्रंक में बन्द किया। होल्डेल सम्हाल कर एक ओर रखा और पिता जी से आकर बोली—"मैसूर जाने के लिए आपने कहा था न ?"

पिताजी नींद में व्याघात पाकर अप्रसन्न हो उठे—"कहा तो था—"

"ट्रिप कल चला गया है। मैं कलकत्ते में उन लोगों से मिल लूँगी।"

पिता जी जरा झल्लाये—"सवेरे से तो तेरे जाने का कोई प्रोग्राम नहीं था ? अभी एकाएक—"

मैं बोली—"एकाएक कैसे ? प्रोग्राम तो था ही।"

"—तो सवेरे से तो कहना चाहिए था ! मेरे पास क्या रुपये रहते हैं ?"

मैं हठ-पूर्वक खड़ी रही।

तब पिता जी बोले—"माँ को बुलाओ तो !"

लेकिन मैं वहाँ से टली नहीं।

पिता जी जरा खीझे—"बस, मूरत बनी खड़ी रहो !"

मैं आक्रोश-पूर्वक बोली—"जैसे माँ अभी रुपए गिनकर दे देगी !"

"देगी या नहीं देगी, सो तो वही।"

"ठीक है।" यह ठीक है मैंने ऐसे स्वर में कहा, जो व्यंजित होकर बोल रहा था कि कोई रुपये नहीं भी देगा, तो क्या; मेरा जाना तो रुकेगा नहीं। 'ठीक है' कहकर मैं अपने कमरे में चली आयी और ट्रंक पर तैयार रखे होल्डल पर इस प्रकार बैठ गयी कि किसी प्लेट-फार्म पर बैठी इन्तजार कर रही हूँ, कि बस गाड़ी आने भर की देर है।

फिर मैंने बैठे-ही-बैठे सुना कि पिता जी ने माँ को उठाया है और कुछ कहा है, जिस पर माँ तेज हो उठीं और चाभी का झब्बा उठाकर फेंक दिया। तब माँ क्रुद्ध मेरे सामने आयीं—"फिर यह कैसा तमाशा खड़ा किया है?"

मेरे भीतर न जाने क्या थमा था, जो एक साथ ही मन को क्रुद्ध कर रहा था और विवशता में बान्धकर पिघला रहा था। मैं फूटकर बोली—"सबों की दुश्मन एक मैं ही हूँ! कह तो दिया कि कहीं नहीं जाऊँगा। इसी घर में मरूँगी।" और ऐसे फूट आयी कि वह थमा-रुका कुछ एकदम-से बह आया।

माँ मेरी इस स्थिति पर स्तम्भित रह गयीं। उनसे कुछ कहा पार नहीं लगा। पिता जी ने आकर सम्बोधा—"अजीब लड़की है! जाना है, तो फिर बच्चों की तरह क्यों रो रही है?"

और फिर यही हुआ कि पिता जी स्वयं मुझे स्टेशन तक छोड़ने आये। कलकत्ते तक एक नौकर साथ आया। एक महीने तक इधर-उधर भागती घूमती रही। भाभी से भेंट की। भाभी काफी स्वस्थ हो चुकी थीं। उन्हें छोड़कर आने लगी, तो वह रो पड़ीं—"मुझे कब तक और यहाँ हजारों मील दूर रहना पड़ेगा?"

और इस भाग-दौड़ के बाद आकर मैंने देखा कि कॉलेज खुल गया है और मेरे लिए बस पढ़ना ही शेष रह गया है।

: १० :

इम्तहान आया। मैं बैठी। आखिरी पर्चे देकर जब बाहर निकली तो यमुना वर्मा ने कहा—"पोलिटिकल कान्फ्रेन्स में चलोगी? नेहरू आये हैं।"

कौन आया है और कैसा कान्फ्रेन्स है, महत्व इसका नहीं था। लगता था कि जीवन के आगे अनन्त अवकाश आ खड़ा हुआ है, जिससे होकर निकलना है। आगे जो वायव्य भरा है, उसे टालकर अपने को आगे निकालना है, जिसमें अगला सब भूत बन जाय और कि उस भूत की ओर मैं आँखें उठाकर भी न देखूँ। इम्तहान को आज तक बोझ मानकर ढोती आ रही थी। आज जब वह बोझ एकाएक ही उतर गया, तो लगा कि इस प्रकार एकदम से निर्भार हो रहना भी ठीक नहीं है। कुछ भार लेकर चलना होगा, जो मन को दाबकर रखेगा।

कान्फ्रेन्स में भीड़ बहुत थी। अपार जन-समूह मन्द कोलाहल में आव्यस्त था। नेहरू जी का भाषण समाप्त-प्राय था। मंच के दक्षिण भाग में महिलाओं के लिए प्रबन्ध था। भीतर जाकर बैठने की न इच्छा थी और न वह सहज ही था। घेरे के सहारे टिककर हम खड़े हो गये। नेहरू जी आजाद भारत के भविष्य के सपने बना रहे थे। किस तरह के परिवर्तन होंगे और कैसी क्रान्ति होगी, देश की भूख कैसे मिटेगी, लोगों को वस्त्र कैसे मिलेंगे, ऐसी ही किसी योजना का विज्ञापन किया जा रहा था।

तभी देखा, महिलाओं की गैलरी से, परले सिरे पर एक नारी-मूर्ति उठी। बच्चे को उँगलियों का सहारा दिया और प्रवेश द्वार तक बढ़ आयी। द्वार पर वहाँ कोई खड़ा था, उसी के इन्तजार में। नारी की उँगलियों से बच्चे को लेकर पुरुष ने अपनी दोनों बाँहों में ले लिया और प्यार से कुछ कहा। और दोनों बाहर की ओर चले। पुरुष की आकृति पर बिजली की रोशनी पड़ी—वह कौन था?—राजन था?

मैं यमुना वर्मा की ओर मुड़ी—"तुम दस मिनट यहीं रुकी रहना। मैं अभी आयी।"

"कहाँ से अभी आयी?" यमुना ने पूछा। लेकिन मैं उसके शब्दों को अपनी पीठ पीछे छोड़ती तब तक बाहर निकल आयी थी।

बाहर आकर कहीं कुछ पता न चला।

तो क्या वह राजन नहीं था?—या राजन ही था? और वह शिशु-आभरित नारी, जो माता भी है और अपने प्रचुर सौन्दर्य में रमणी भी है, वह कौन है?....राजन....राजन वह कैसे हो सकता है? अवश्य ही राजन नहीं था। आकृतियाँ कभी-कभी एक-सी नजर आ जाती हैं और दृष्टि को भ्रम में डाल देती हैं। लेकिन यह भ्रम मन में बन्धकर नहीं ठहरा। और अगर राजन ही था, तो क्या? उससे क्या लेना-देना है अपना?

मैं कान्फ्रेन्स के शेष दोनों दिन पांडाल में आकर बैठती रही। लेकिन वह शिशु-आभरित रमणी न मिली, जिससे पूछती कि हे नारी, तू कौन है? और तेरे साथ का वह पुरुष कौन था?....

सांस्कृतिक कार्य-क्रम ग्यारह बजे रात में समाप्त हुआ। भीड़ से अपने को निकालकर जब बाहर सड़क पर आयी, तो देखा, राजन ही है, जो भीतर दाखिल होने के लिए एक मोटर का दरवाजा खोल रहा है। हठात् मेरे मुँह से निकला—"राजन!"

राजन ने एक बार मेरी ओर देखा और एकदम से मेरे निकट आकर बोला—"ओः निरूपमा !"

मानो मैंने कहा—हाँ, मैं ही हूँ निरुपमा ! और उसी भाव से उन्मुख उसकी ओर देखती रही ।

उसने पूछा—"अच्छी तरह तो हो ?"

"हूँ !"

"खाली हो, तो आओ मेरे साथ ।" और मेरी सहमति-असहमति के पहले ही उसने मुझे खींचकर गाड़ी में कर लिया ।

गाड़ी जब चली, तो मैंने पूछा—"कहाँ चलना है ?"

राजन मुस्कुराया—"क्या समझती हो कि तुम्हें कहीं भगाकर लिये जा रहा हूँ ?"

इस पर मैं चुप हो आयी ।

गाड़ी चली जा रही थी, लेकिन लगता था कि भीतर का सब कुछ रुका है, मानो ब्रेक लगाकर रोक दिया गया हो । और ऐसे में साँस भी भारी मालूम हो रही थी । बातों को क्या एकदम से इस प्रकार ठहर जाना चाहिए ? नहीं, उसे चलना चाहिए । लेकिन इस व्यक्ति ने क्या जान-बूझकर बातों को बन्द नहीं कर लिया है ? मैंने पूछा—"पिछले दो-ढाई सालों में कहाँ रहे ."

राजन सामने देख रहा था । उसी अलक्ष्य की ओर देखते हुए उसने जैसे अपने से ही पूछा—"कहाँ रहा ?—"

उस 'कहाँ रहा' का जैसे कोई उत्तर नहीं था । या था भी, तो इतना कि सीधा कुछ कहा जाना शायद संभव नहीं था । राजन की नजर उसी अलक्ष्य में बन्धी थी । जैसे कि उसके पिछले दो साल उसी अलक्ष्य में थे और अनिश्चित थे और अब ठीक पकड़ में कुछ आ नहीं रहा था । और इस प्रकार बातें फिर समाप्त हो गयीं ।

गाड़ी एक बड़े बँगले के आहाते में घुसी और पोर्टिको में जाकर लगी। मैं उतारी गयी। उतारी गयी इसलिए कहती हूँ कि राजन ने जब कहा—'उतरो!' तब मुझे चेत हुआ कि उतरना भी है। समूचे बँगले में रात का सन्नाटा था। एक नेपाली दरबान चुपचाप एक ओर खड़ा था। मैं राजन के साथ एक बड़े हॉल से होकर एक बड़े कमरे में दाखिल हुई। वह कमरा अच्छे ढंग से सजा था और किसी की सम्पन्न सुरुचि का परिचय दे रहा था। कमरे के सभी सामान बेसकीमती थे। दीवारों पर कई चित्र थे—दृश्यों के, कलाकारों के, गांधी के, नेताओं के, लेलिन और मार्क्स के भी।

मुझे कमरे में लेकर राजन ने दरवाजा उटँगा दिया। फिर मुझसे कहा—"बैठो।"

जैसे मैं बहुत थक गयी थी, उसी तरह एक सोफे में बैठ गयी। दीवार में बने शीशे के एक बड़े टैंक में रंगीन मछलियाँ तैर रही थीं। उन मछलियों की ओर देखती हुई मैंने अपने से पूछा—मैं कहाँ हूँ?

राजन ने टोका—"मछलियाँ कभी देखी नहीं हैं?"

मैंने राजन की ओर देखकर सिर्फ मुस्कुरा दिया। उस मुस्कान का कोई अर्थ नहीं था।

राजन बोला—"कुछ बात करो!"

'क्या बात करूँ?' इसी भाव से मैंने सिर उठाकर राजन की ओर देखा।

क्षण-भर रुककर राजन ने कहा—"सुना था, एम. ए. कर रही हो!"

"कर रही थी।"

"उससे निवृत्ति मिल गयी?"

"मिल गयी ही समझो!"

"अब क्या करने का सोचा है ?"

एम. ए. तो कर लिया है और इस कर लेने के बाद और भी कुछ करना है; वह करना क्या है, उसके विषय में अब तक कुछ सोचा नहीं था। इसलिए जरा सोच में पड़ गयी कि क्या जवाब दूं। कि दरवाजे पर किसी ने खटखटाया।

राजन ने बिना उधर देखे ही कहा—"आ जाओ !"

अन्दर उसी नारी-मूर्ति ने प्रवेश किया। रूप ! वहाँ रूप ही था, जो बन्धा न था—विकीर्ण था और संयम से घिरा था। मेरी नजर वहीं ठहर गयी। वह कमरे में आकर ऐसी खड़ी हो रही कि पूछ रही हो—आकर गलती तो नहीं की ?

राजन ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा—"क्या है ?"

वह बोली—"खाना—"

"खाना—?"

"खाना तुम दोनों के लिए यहीं भिजवा दूँ ?"

राजन मुस्कुराया—"मैं यहाँ दो हूँ, यह कैसे जाना ?"

वह फूल-सा हँसी—"देख तो रही हूँ कि दो हो।"

वह हँसी ऐसी थी कि लगा कमरा सुगन्ध से भर गया है और सम्पूर्ण वातावरण को आविष्ट कर उठा है। उस नारी के चारों ओर मोह का बहुत बड़ा आकर्षण फैल रहा था। कौन है यह नारी ?—कौन है ?

राजन ने उसी नारी से पूछा—"तुम दोनों परिचित हो ?"

और जवाब जब कई क्षणों तक नहीं मिला, तो वह बोला—"यह है निरुपमा !—श्रीमती निरुपमा देवी !"

वह मेरी ओर देखकर मुस्कुरायी—"अच्छा तो हैं।...खाना लगाऊँ ?" जैसे निरुपमा और उसका परिचय अनिमित्त है। प्रधान होकर खाना ही है, जिसे राजन कहे, तो वह भेज दे और छुट्टी पा ले।

राजन ने मुझसे पूछा—"खाना तुम निरुपमा, खाओगी ?"

वह बोली—"ऐसे भी पूछा जाता है ? खायँगी क्यों नहीं ?"

राजन—"नहीं खाने की बात भी हो सकती है। उसका यहाँ घर है। जिस घर पर जाकर यह जवाब देना पड़ेगा कि कहाँ खाया है ?"

वह—"मैं जाकर जवाब दे दूँगी।"

मैंने सिर्फ कहा—"नहीं—नहीं।"

राजन ने कहा—उस नारी से कहा—"मेरा खाना यहीं भेज दो !"

और जब वह राजन की आज्ञा-अनुवर्तिनी-जैसी बनी नारी कमरे से बाहर जाने लगी, तो राजन ने कहा—"दरवाजा बाहर से खींच लेना !"

दरवाजा खींच लिया गया। उस एकान्त में हम दोनों फिर अकेले हो आये। अपने इस अकेलेपन को लेकर मैं सोचने लगी कि यह नारी जो अपने को चारों ओर बिखेरकर अनुवर्तिनी-सी बन्धी है, वह कौन है ?—राजन की वह कौन है ? इसी जिज्ञासा की अन्तर्चेतना में मैंने आँखें उठाकर राजन की ओर देखा। वह न जाने मुझमें क्या देख रहा था कि टक बन्धी थी। एकाएक अपने भीतर सम्बोध-सा अनुभव कर उसने दृष्टि नीचे कर ली। मैंने पूछा—"यह कौन है राजन ?"

'यह' से मेरा मतलब उस नारी से है, यह सोचकर राजन स्तमित हो आया—"और अगर मैं तुमसे पूछूँ कि कौन हो तुम ? तो क्या कहकर परिचय दोगी ?"

"क्या कहकर—?"

"हाँ, क्या कहोगी ?"

"कहूँगी कि निरुपमा हूँ।"

राजन हँसा—"तुम निरुपमा हो, यह तो समझा। लेकिन सृष्टि में और भी बहुत कुछ है, जो अनुपम है। उन असंख्य अनुपमों में से अलग तुम कौन निरुपमा हो, जिज्ञासा की ग्रन्थि यहीं बन्धी रहेगी।"

ग्रन्थि ! तो क्या मैं मात्र निरुपमा नहीं हूँ ? जरा ठहरिए। शायद नहीं हूँ, इसलिए ग्रन्थि है। मैं स्वयं की नहीं हूँ। पति की हूँ। उस पतित्व की मर्यादा में ही बन्धा मेरा परिचय है। यह ग्रन्थि नहीं खुलेगी, तो परिचय भी नहीं खुलेगा। और अभी जो नारी गयी है, उसके मांग के बीच हलकी लाल रेखा है और उसकी गोद फूल-जैसे एक बालक से आभरित है। उसका परिचय भी ग्रन्थि में बन्धा है। क्या मैंने भी उसी ग्रन्थि को जानना नहीं चाहा है, कि कौन है वह, जिसे सुहाग की तरह अपने सिर पर धारण कर वह धन्य है।

राजन ने बातों को अपने ऊपर से टाल फेकने की इच्छा से कहा—"छोड़ो भी, वह कोई भी हो सकती है। ज्योत्स्ना भी हो सकती है; शशि, उमा, रमा, कान्ता भी हो सकती है। और फिर निरुपमा भी हो सकती है। सब हो सकती है। सब में न होती, तो नारी कैसे है ?"

मैं चुपचाप राजन का मुँह ताकती रही।

राजन बोला—"तुम बोलो, तुम अब आगे क्या करना चाहती हो ?"

मैं किंचित हँसी—"तुम तो ऐसे पूछते हो, जैसे मैं आगे का सब कुछ सोचकर करती रही हूँ। मेरे जीवन में सब कुछ अनिश्चित होकर ही आया है। इस एम. ए. का ही क्या कभी सोचा था ? अनिश्चय में ही यह हो गया।"

"और आगे कब तक अनिश्चित रहने का सोचा है ?"

"राम जाने।" मेरे मुँह से न जाने कब की बन्धी लम्बी साँस छूट गयी। इस लम्बी साँस पर मैं स्वयं चकित हो आयी। इतनी लम्बी साँस लेने का तो कोई प्रयोजन नहीं था।

राजन पूछ बैठा—"यह तेरा राम कौन है नीरू ?—कुमार ?"

मैंने कहना चाहा—'कुमार तो है ही।' लेकिन कहा कुछ नहीं। चुपचाप उन नन्हीं रंगीन मछलियों को देखती रही, जो इस रात के सन्नाटे में भी चंचल इधर-उधर घूम रही थीं।

अचानक ही राजन का स्वर भारी हो गया—"पति को तुम क्या समझती हो निरुपमा? क्या वह नारी का इतना ही बड़ा भाग्य-विधाता है?—नहीं, पुरुष विधाता कभी नहीं रहा है। वह नारी के सृजन में से होकर ही उत्पन्न हुआ है। उसी अखिलेश्वरी के हाथों ही वह खिलौने की तरह बनता है, सँवरता है और फिर उन्हीं सुकुमार हाथों से टूट भी जाता है। उसी अखिलेश्वरी की माया को, शक्ति को सीमा में बान्धने के लिए ही यह पुरुष क्या पति नहीं बना है? यह विवाह क्या उसी की सृष्टि नहीं है?—तुम विवाह को क्या मानती हो? बोलो!"

एकाएक ही यह प्रश्न आकर मुझपर टिकेगा, यह मैंने सोचा नहीं था। सो उत्तर-अन्वेषण में मैं अपने भीतर अस्त-व्यस्त हो उठी।

कई क्षण टिककर राजन मुझमें देखता रहा। फिर बोला—"मैं विवाह को एकदम से नहीं मानता, वह बात नहीं। विवाह के प्रयोजन को समझता हूँ। यह दो सेक्स का निकटतम सम्बन्ध है, जिसे पतियों की संस्था समाज ने स्वीकार कर लिया है। लेकिन विवाह में अर्पण-समर्पण-जैसी चीज तो कम ही है। इसमें तो छीनने और हस्तगत करने का ही बल है। इसलिए विवाह में बन्धकर हृदय मुक्त नहीं रहता। भावनाओं को गति नहीं मिलती। व्यक्तित्व फैलता नहीं, सीमित हो जाता है। ऐसे में विकास सम्भव है?" फिर एकाएक ही राजन का कण्ठ खुल आया—"कभी सम्भव नहीं है। भारत को उन्नत मस्तिष्क और विकास-शील व्यक्तित्व की जरूरत है। ऐसे व्यक्तित्व की जरूरत है, जिसकी भावनाओं के चारों ओर चहारदिवारियों का घेरा न हो, जो सूरजमुखी की तरह आकाश में सिर उठाकर उन्मुक्त भाव से खिले। तुमने बी. ए. किया, एम. ए. किया। क्या इसलिए

किया कि तुम्हारा व्यक्तित्व ह्रस्व होकर रह जाय? विवाह के बाहर भी कुछ है, क्या ऐसा नहीं सोचती? पति के साथ कर्तव्य, यह सही है। लेकिन उस कर्त्तव्य से आगे भी तो कुछ है? एक में सीमित रहने वाली सेवा अनेक के लिए हो, अनेक का कल्याण करे, क्या यह मंगल भावना नहीं है? फिर घर में बन्द होकर अकारण ही व्यक्तित्व को सड़ने क्यों दिया जाय?"

मैं भावाविष्ट-सी बोली—"तो मुझे क्या करने को कहते हो?"

राजन गम्भीर होकर बोला—"मैं जानता हूँ निरुपमा, कि तुम करने के लिए ही हो। मैं जहाँ हूँ, लगता है कि ठीक जगह पर नहीं हूँ। मेरी गति बन्धी है, दिशा बन्धी है। मैं यहाँ स्वतन्त्र होकर नहीं हूँ, बन्धकर हूँ। इसलिए चाहता हूँ कि मेरी गति स्वतन्त्र हो, दिशा उन्मुक्त हो। इसलिए एक नया संघ चाहता हूँ। नया इसलिए चाहता हूँ कि पुराने पर आस्था नहीं है। तुम आओ, संघ को सहारा दो, शक्ति दो। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी ही शक्ति की प्रेरणा लेकर मैं नये आदमियों को एक सूत्र में बान्ध सकूँगा। लेकिन मैं जहाँ हूँ, वहाँ रिफ्ट पैदा करना नहीं चाहता। चुपचाप अलग हो जाना चाहता हूँ। तुम साथ दो! तब तुम देखोगी, कि तुम चहारदीवारियों के लिए नहीं हो, करने के लिए ही हो।"

मैंने धीरे से कहा—"हूँगी! लेकिन अपने विषय में तो इतना ही जानती हूँ कि मरने के लिए ही हूँ।"

राजन—"जो मृत्यु को सचमुच जान गया है, जन्म भी वही दे सकता है।"

मैं जन्म दे सकूँगी?—मैं? मैं तो बन्ध्या हूँ। मुझे बन्ध्या बनाकर रखा गया है। अपने को एक न रखकर अनेक करूँ, अनेक में जन्म लूँ, ऐसा कैसे हो सकता है? मैंने पूछा—"मैं क्या कर सकती हूँ?"

"इतना तो जरूर ही कर सकती हो कि व्यक्तित्व को पौध की तरह एकस्थ न रखकर बेल की तरह फैलो—दूर-दूर—शाखा-प्रशाखाओं पर।" राजन ने कहा।

उस दिन मन में न जाने कैसा बोध जागा कि भीतर के अहं को बार-बार कुरेदने लगा—निरुपमा, तुम हो—तुम हो! एकस्थ न रहो, फैलो! और मैं उत्थित हो राजन के पास बढ़ आयी। उसके दोनों हाथों को अपने में लेकर आग्रह किया—"मुझे क्या करना होगा, बोलो!"

"निश्चय करके कल आना, मैं यहीं मिलूँगा।"

मैं मचली—"नहीं, आज बोलो कि क्या करना होगा? कल मुझे सदा छलता रहा है। कल पर मैं विश्वास नहीं करती। आज—"

राजन—"कल सबको छलता रहा है—छलता रहेगा। इस छल से अपने को बचाकर, छली न जाकर आ सको, तो आना!"

मैं कातर बोली—"आज नहीं?"

उसने दृढ़ स्वर में कहा—"नहीं, आज नहीं। वर्षा की बूँदें जब एकाएक जोर से पानी पर आ गिरती हैं, तो उससे बुलबुला ही पैदा होता है, जो अल्पायु होता है। इसलिए जाओ, सोचो! बूँदों की तरह एकत्र होओ और धारा बनकर आओ। ऐसा कुछ लेकर आओ, जो अल्पायु नहीं हो। भारत के राष्ट्र को अल्पायु होना नहीं है।"

आगे कोई बात नहीं हुई। राजन ने मुझे पोर्टिको में लगी उस ब्रोंज रंग की फिआट में लाकर छोड़ दिया।

घर में एक बजे पहुँची।

बिछावन पर पड़कर मैं यही सोचती रही—निरुपमा, तुम हो, एकस्थ न रहो, फैलो!...फैलूँ? लेकिन वह कौन-सी शाखा है, जिसके सहारे फैलूँ? पति?....उनका व्यक्तित्व बहुत फैला है। उन फैली शाखाओं का सहारा लेकर क्या मैं फैल सकती हूँ? नहीं, मुझमें उतना

फैलाव नहीं है। उतना फैलूँगी, तो बिखर जाऊँगी। तो फिर यह फैल पड़ने की वांछा जो एकाएक मन में उत्पन्न कर दी गयी है; उसकी सीमा कहाँ है?—कहाँ है?

और मैं सो गयी।....

सवेरे उठी, तो लगा कि प्राणों में स्फूर्ति भरी है। जीवन-उत्स का न जाने कब का बन्द द्वार खुल आया था कि उसकी राह अबाध उत्साह भरता चला आ रहा था। चारों ओर के वायव्य में हलकापन भरा था। न जाने किस अज्ञात उद्देश्य से सनद्ध-सी मैं पलंग पर आ बैठी कि लो, मैंने अपने को चारों ओर से निबटाकर खाली कर लिया है; बोलो, क्या करना है? आज मेरे लिए कोई रोक नहीं है, कहीं बन्धन नहीं है। मैं एकस्थ होने के लिए नहीं, फैलने के लिए हूँ। कहो, कहाँ फैलना है?

उस उत्साह को अपने भीतर रोककर उस पलंग पर बैठी न रह सकी। पिता जी के पास आकर बोली—"आज एक जगह जाना है। जाऊँ?"

पिता जी कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। उसी में नजर गाड़े उन्होंने कहा—"कहाँ जाना है?"

"एक आदमी से मिलने जाना है।"

पिता जी ने सिर उठाकर मेरी ओर देखा—"कौन आदमी है वह?"

जिस आदमी से मिलने जाना है, उसका नाम क्या पिता जी से कह दूँ? एक दिन उस आदमी से मेरा मिलना अवैध करार दिया गया था। आज उससे मिलना क्या वैध हो गया है? मुझे चुप देखकर पिता जी ने पूछा—"जिससे मिलने जाना है, उसे क्या तुम नहीं जानती?"

"नहीं—"

"नहीं ?" पिता जी हँस पड़े—"खूब है। आओ, मिलो! हर जाना आदमी पहले अनजान ही रहता है।"

वहाँ से लौट आकर मैंने अपना मेकअप किया। माँगों में गहरा सिन्दूर डाला। सुहाग का वह चिन्ह अपने सिर पर लेकर मैं किसी अज्ञात भार से दब आयी। प्राणों की स्फूर्ति में एक अनजानी जड़ता कीलित होती लगी। यह क्यों है? ऐसा क्यों है? क्या पतित्व का सुहाग नारी के व्यक्तित्व को ह्रस्व ही करता है? फिर यह कैसा भाव है, जो मुझे भीतर-ही-भीतर बोझिल बना रहा है? पति ने मुझे सदा मुक्त रखा है। मेरे आगे विराम बनकर वह कभी खड़े नहीं हुए। वह सदा यही चाहते हैं कि यह निरुपमा फैले—अपने को कुन्द-कुण्ठित न करे। फिर उत्साह के बीच में विजड़ित चट्टान-जैसा यह क्या है?—क्या है यह, जो अत्यन्त ही हल्की, मुक्त होकर मुझे वायव्य में उठने नहीं देता?....कुछ नहीं है, कुछ नहीं है। मुझे करना है और फैलना है।

मैं कपड़े बदलकर तैयार हो गयी।

नीचे ब्रोंज रंग की वही फिआट लगी थी।

गाड़ी जब बंगले में घुसने लगी, तो मेहराव के पाये पर एक बोर्ड लगा देखा—डा. शैलबाला सिन्हा।

नाम के बाद अंग्रेजी के कई अक्षरों में विदेशी डिग्रियाँ भी लिखी थीं, जो डाक्टरी सम्बन्धी थीं। मेरे मन ने दुहराया—डा. शैलबाला सिन्हा!

भीतर सोफे में राजन अधलेटा बैठा था। उसने अपना पाँव सामने एक स्टूल पर फैला रखा था और गोद में एक किताब थी, मोटी, रेक्सिन की जिल्द चढ़ी। मेरा आना उसे भान नहीं हुआ और वह उसी प्रकार किताब में तन्मय रहा। फिर भावों के न जाने किस संक्रमण में आकर उसने पढ़े हुए भाग में उँगली अँटकाकर किताब

बन्द कर दी। आँखें उठाकर जब इधर देखा तो मुझपर अँटक गयीं और टिकी रहीं। उसी भाँति वह मुझे देखता रहा। तब उसके मुँह से निकला—"निरुपमा—?" जैसे वह अपने अन्तरतम की आस्था से पूछ रहा हो कि यह जो नारी सामने खड़ी है, वह निरुपमा ही है न?

मैंने उसकी उस अतीन्द्रिय होती दृष्टि में देखकर टोका—"क्या देखते हो कि निरुपमा नहीं हूँ?"

वह और अधिक दूरस्थ होता हुआ बोला—"निरुपमा ही तो हो—निरुपमा ही।" और वह मेरे मांग पर की गहरी लाल रेखा को देखता रहा।

राजन में जो सूक्ष्मता और गहराई पैठ रही थी, उससे मैं अपने भीतर अस्थिर हो उठी। उसमें सम्बोध जगाने के लिए पूछा—"क्या बात है राजन?"

उसकी गहराई के तल में उद्रेक आया। उद्रेक जैसे तल से ऊपर उठा—"निरुपमा,—बात—?—बैठो!....अभी मैं पढ़ रहा था कि आदमी जो ऊपर का है, बाहर का है, सत्य वह नहीं है। सत्य अप्रकट रहता है। सत्य पर आवरण डालकर ही आदमी प्रकट होता है।....तुम बैठोगी नहीं?"

मैं उसी प्रकार टेबुल के किनारे से लगी खड़ी रही कि बैठूँगी नहीं। बुलाया है, सो आ गयी हूँ। बोलो, क्या करना है—क्या करना होगा?

राजन ने आग्रह किया—"बैठो न!"

मैं उसी प्रकार खड़ी रही, तो राजन उठ आया—"इस तरह निःशक्त होकर क्यों खड़ी हो? आदि शक्ति ही अननुप्राण होकर खड़ी रहेगी, तो यह सृष्टि किसकी गति से चलेगी? नारी की शक्ति से ही प्रेरित होकर तो यह सारा-कुछ चल रहा है। तुम ही रुकोगी, तो

इस सम्पूर्ण सौर-मंडल को जड़ होने में कितनी देर लगेगी? तुम्हें बुलाया इसलिए है कि गतिशील रहो और गति दो। आओ!" और उसने मेरे दोनों हाथों को अपने हाथ में थाम लिया। मैं अपना हाथ उसके हाथों में देकर ऐसे बढ़ी कि लो, सृष्टि को गति चाहिए न? तो हो सब कुछ गतिमान! मैं तैयार हूँ!

जिस सोफे पर वह बैठा था, उसी पर लाकर राजन ने मुझे बैठा दिया। सामने के स्टूल पर स्वयं बैठता हुआ बोला—"नहीं जानता था कि अचानक फिर तुम्हें इस प्रकार अपने वृत्त में पा लूँगा। कल तुम्हें देखा, तो मन में संकल्प हुआ कि तुम्हें प्राप्त करना होगा। तुम अब और अधिक अननिवार्य और उपेक्षनीय बनकर नहीं रह सकती। तुम्हारी मुझे जरूरत है—संघ के लिए, राष्ट्र के लिए।"

फिर उसने सामने दीवार की ओर इशारा कर पूछा—"वह चित्र देखा है?"

मैंने चित्र देखा—एक नारी की गोद में कोमल शिशु अपनी मुस्कान बिखेर रहा था। वह चित्र! यह नारी कौन है?—डा. शैल-बाला सिन्हा? और मैं उसी चित्र में टक बान्धे देखती रही।

राजन बोला—"नहीं, निरुपमा, वह सत्य नहीं है। वह तो सत्य के ऊपर का आवरण है।" राजन उठा और दीवार से टँगे उस चित्र को उलट दिया। चित्र के दूसरे रुख पर भी चित्र बना था—एक बीमार नारी की गोद में एक रुग्न कृश शिशु पड़ा अन्तिम साँस ले रहा था, उस नारी-आकृति पर सौन्दर्य का लेश नहीं था। वहाँ वर्तमान होकर रुक्षता और कृशता ही पड़ी थी, जैसे किसी ने नींबू निचोड़कर फेंक दिया हो। सूखे हुए स्तन इस बात की गवाही दे रहे थे कि वहाँ दूध नहीं है। माँ के लिए अन्न नहीं है, इसलिए शिशु के लिए दूध नहीं है, रोग के लिए दवा नहीं है। चित्र की रेखाएँ हलकी थीं और स्पष्ट तथा जोरदार थीं। उसकी सूक्ष्मता

आत्मा के बहुत भीतर उतर रही थी। शिशु की आँखों में जीवन की कातरता थी और माँ की आँखों में विवश वेदना। ऐसी वेदना कि अन्तर को मथ दे। राजन ने कहा—"चित्र का सत्य यही है। इस चित्र को आज से पच्चास साल पहले फ्रांस के एक कलाकार ने बनाया था। फ्रांस तो रूप और सौन्दर्य का देश है न! वहाँ के जन-जीवन का यह सौन्दर्य है। इस शैलबाला को इस चित्र ने बहुत अपील किया और उसने इसे काफी पैसे देकर खरीद लिया। फ्रांस का यह तोहफा वह भारत ले आयी है। लेकिन इस सत्य को वह अपनी तस्वीर की ओट में रखती है। भारत के जन-जीवन का भी क्या यही चित्र नहीं है? चित्रकार वान जॉग ने बीसवीं सदी के प्रारंभ के फ्रांस के पूँजीवादी तथा सामन्तवादी चक्रव्यूह से आहत जीवन का चित्र दिया था। सम्पूर्ण विश्व के पूँजीवादी देशों की तब यही तस्वीर थी।"

राजन की नजर मुझ पर आकर टिक गयी। मैं उस तस्वीर की ओर देख रही थी। मेरे मन में बार-बार उठ रहा था कि भारत का मातृत्व क्या सचमुच इतना ही विवश है? क्या उसकी छाती में अपने ही शिशु के लिए दूध नहीं है?—है, जरूर है। लेकिन वह दूध किसी ने अपने बच्चे के लिए निचोड़ लिया है। मेरे मन में कुण्ठा-जैसी कोई चीज द्रवित होती लगी। मैंने राजन की ओर सिर घुमाकर देखा।

राजन का स्वर इस बार अस्वाभाविक था, बदला हुआ था और गम्भीर था—"निरुपमा देवी! अर्थ-तन्त्र की किस दुर्व्यवस्था के कारण समाज में यह विषमता आ गयी है, यह आपने पढ़ा है और उसका अनुशीलन भी किया है। बी. ए. में आपने यह विषय भी ले रखा था। अब प्रश्न यह है कि पूँजी का जब तक विकेन्द्रीकरण नहीं होगा, हम उस तस्वीर की नारी को और उसकी गोद के शिशु को कभी जिन्दा नहीं रख सकते! मैं यह नहीं चाहता कि डा. शैलबाला

सिन्हा के बच्चे के मुँह से दूध छीनकर उस चित्र की नारी के शिशु को दे दिया जाय। लेकिन शैलबाला की गोद के शिशु के लिए जो दूध संचित किया जा रहा है, उसे बाँटना होगा। इसलिए बाँटना नहीं होगा कि उस दूसरे शिशु को मरने से बचाना है। हमें यह व्यवस्था करनी है कि उस दूसरे शिशु का प्राप्य उसे मिले—दया की भीख की तरह नहीं, अधिकार की तरह।"

मिले तो, लेकिन उस मिलने में मेरा क्या उपयोग होगा? क्या इसी उपयोग के योग्य अपने को सिद्ध करने के लिए फैलना होगा? क्या इसीलिए मुझे यहाँ बुलाया गया है? ऐसी ही दृष्टि से मैं राजन को ओर देखती रही।

राजन ने मेरे दोनों हाथों को अपने में लेकर दबाया—"नीरू!"

मैं दूरस्थ होती हुई बोली—"क्या है?"

राजन—"तुम देश के लिए अपने को दे सकोगी?"

"देश के लिए?"

"हाँ, देश के लिए—"

"अपने को?"

"हाँ, अपने को—"

"तुम यह समझते हो कि मैं इतनी ही अपनी हूँ कि कहीं भी अपने को दे डालने लिए स्वतन्त्र हूँ?"

"हाँ, मैं जानता हूँ, तुम पर कोई अंकुश नहीं है।"

"अंकुश नहीं है, इसी से क्या मैं सब कुछ करने के लिए आजाद हूँ?"

"नीरू!"

"नीरू नहीं, जवाब दो।"

"कुमार कुछ नहीं बोलेगा।"

मेरे भीतर कुछ द्रवित हुआ और वह आया—"वह नहीं बोलेंगे, यह मैं जानती हूँ। बोलते, अंकुश डालते, तो मैं झगड़कर निकल आती। लेकिन वहाँ विरोध नहीं है, इसी से उल्लंघन भी नहीं होना चाहिए। मैं आज्ञा मांगूँगी, तो वह दे देंगे। इसलिए दे देंगे कि वह जानते हैं कि मैं अबोध नहीं हूँ। जो कुछ करती हूँ, सोच-समझकर। इसलिए सोच-समझकर ही अपने को दे सकती हूँ।" मैंने कहा और कुछ क्षण ठहरकर पूछा—"लेकिन तुम पुरुषों के संगठन में मैं क्या कर सकती हूँ?"

राजन अधीर-जैसा बोला—"नीरू, सृष्टि में नारी-पुरुष का अस्तित्व आदिकाल से समयुज्य रहा है। इसलिए किसी भी स्थान में नारी-पुरुष का भेद नहीं होना चाहिए। हमारे संगठन में भी नहीं होगा। दोनों ही समाज के सम अंग हैं। क्षमता में तुम किस पुरुष से कम हो? बोलो!"

मैंने कुछ उत्कट पड़कर कहा—"पुरुषों के सम्मुख नारियों का क्या उपयोग रहा है, यह मैं जानती हूँ। सभा-संगठनों में भी पुरुषों ने नारियों को अपना खिलौना ही बनाया है। क्या तुम मुझे इसलिए लेना चाहते हो कि तुम्हारे संगठन की कुंठित क्रिया में गति आवे? संघ के सदस्य मेरे लिए प्रतियोगी बनें और तुम उनकी केन्द्रित काम-एषणा की स्फूर्ति को चाहे जिस ओर नियोजित कर सको?"

राजन ने बात काटी—"वह बात नहीं है नीरू!"

मैंने कहा—"बात चाहे जो हो, लेकिन तुम मुझे उस कार्य के लिए भी प्रयुक्त करना चाहते हो, तो मैं आऊँगी।"

राजन—"आज तुम बहुत अस्थिर हो।"

मैं—"अस्थिर हूँ? या सत्य को बहुत ही नंगा करके रखा है, इससे तुम चंचल हो उठे हो?"

राजन ने मेरे ओठों पर उँगलियाँ रखकर चुप कर दिया। फिर वह अपने ही भीतर उलझा-जैसा कमरे से बाहर हो गया।

कमरे में अकेली बैठकर मैंने सोचा—परिवार में बन्धकर तो व्यक्तित्व सचमुच ही एकस्थ हो जाता है और ह्रस्व हो जाता है। निरुपमा का कुमार के कुटुम्ब का इसी प्रकार लेखा-जोखा करते-करते एक दिन अन्त हो जायगा। एक दिन अर्थी उठेगी और यह काया चिता में भस्म हो जायगी। पड़ोस के लोग जान लेंगे कि कुमार की पत्नी अब इस संसार में नहीं रही।....निरुपमा क्या बस इतना ही भर के लिए है? नहीं, यह तो दूसरों की जिन्दगी जीना है। लोगों को जानना होगा कि निरुपमा है। और एक दिन जब मैं न भी रहूँ, तो लोग जानें कि निरुपमा नहीं रही। व्यक्तित्व को इसी प्रकार फैलाना होगा। अपने को निरुपमा के रूप में ही वर्द्धमान पाना होगा।

मैंने उस फैलाव को जैसे अपने भीतर अनुभव किया और सोफे पर से उठ आयी। टेबुल के एक किनारे राजन की तस्वीर थी। कागज के कुछ टुकड़ों पर पेपरवेट रखा था। मैंने उन चिटों को पलटकर देखा। एक चिट पर अंगरेजी में लिखा था—'सेंड टू हंड्रेड ऐण्ड एट्टी रुपीज।—कुमार। चिट की दूसरी पीठ पर लिखा था—डा. शैलबाला सिन्हा।

डा. शैलबाला सिन्हा! सेंड टू हंड्रेड ऐण्ड एट्टी रुपीज! उस चिट ने जैसे मुझे बान्ध लिया। यह शैलबाला कौन है? यह डाक्टर है, यह तो बाहर का है, विज्ञापन का है। लेकिन उसका परिचय क्या बस, इसी डाक्टरपन में बन्धा है? नहीं, उसका व्यक्तित्व और भी फैला जरूर है। वह डाक्टर होकर भर ही नहीं है। वह शैलबाला भी नहीं है। वह कुछ और अवश्य है, जिसके सामने यह कुमार प्रार्थी बनकर खड़ा है कि मुझे २८०) रुपए चाहिए। बस, दो सौ अस्सी, न कम, न बेसी। लेकिन यह कुमार क्या सच प्रार्थी ही है? नहीं,

शब्दों में आज्ञा है कि दो सौ अस्सी रुपये भेज दो। जैसे वे रुपये इस शैलबाला के नहीं हैं—कुमार के हैं और शैलबाला के यहाँ थाती हैं और अब जब कुमार ने माँगा है, तो शैलबाला को दे ही देना चाहिए।....लेकिन क्यों? कुमार, राजन, शैलबाला,—कौन है यह शैलबाला, जो दूसरे के बच्चों के मुँह का दूध अपने बच्चे के लिए संचित करती है और कुमार उससे रुपये मांगते हैं?

तभी उस शैलबाला ने अन्दर कदम रखा—"राजन नहीं है?"

"नहीं।" मैंने कहा।

"अच्छा, मैं अभी आयी।" और वह उलटे पाँव फिर वापस चली गयी।

दुबारे जब लौटी, तो उसके साथ एक लड़का था, जो नाश्ते और चाय का सामान ले आया था। एक नक्काशीदार छोटी तिपाई को खींचकर शैलबाला ने सोफा के सामने कर लिया और नौकर के हाथ से ट्रे लेकर उस पर रख लिया। नौकर ने दूसरी कुर्सी खींचकर आमने-सामने कर दी। अब वह डा. शैलबाला सिन्हा, न डाक्टर थी और न सिन्हा। उसका सारा व्यक्तित्व, व्यक्तित्व का सारा विस्तार 'शैलबाला' में सिमट आया था। और वह सिर्फ शैल थी, और कुछ नहीं। उसने मुझे बगल में लेकर सोफे पर बैठा दिया और बोली—"कुछ खास बात सोच रही हैं क्या आप?"

मैंने झटके से सिर हिलाया—"नहीं तो—"

वह मुस्कुरायी—"ओह! तब ठीक है! लीजिए, नाश्ता कीजिए!"

"नाश्ता?—नाश्ता तो मैं—"

"नहीं करती, यही न?" और वह उसी प्रकार फूल की तरह खिलकर हँसी—"इस भारत में दोनों शाम खाना भी बहुत कम लोगों को नसीब होता है; नाश्ता तो दूर की चीज है। और वही दूर की

चीज इस समय जब एकदम निकट आ गयी है, तो उसे चुपचाप स्वीकार न कर लेना मूर्खता होगा। है न?—लीजिये! शुरू कीजिए!" और उसने टोस्ट का कतरा उठाकर दाँतों से काटा—"अजी, लीजिए भी!"

उस समय वह शैलबाला शैल भी नहीं रही, एकदम से बाला बन आयी। उसकी प्रगल्भता पर मैं कुछ भीतर-ही-भीतर व्यस्त हो उठी। उसी व्यस्तता में मैंने टोस्ट उठाया। वह हँसी—"आपको नखरा करना अच्छा लगता है?"

मुझे हँसी आ गया। और भीतर में जो क्षण-भर के लिए कुहेसा भर आया था, वह दूर हो गया और हेमन्त के प्रात की मधुर धूप खिल आया।

चाय के बीच में बराबर शैलबाला को देखती रही कि इस नारी का आँचल कितना विस्तृत है, कि जिसके नीचे यह राजन और कुमार आ बैठे हैं। लेकिन उस आँचल के विस्तार तक मैं कहीं से भी नहीं पहुँच सकी। वह एकदम खुली रहकर भी आवृत्त थी और ऐसे में आवर्त का कहीं पता नहीं चल रहा था। मैंने पूछा—"आप कुमार को जानती हैं?"

शैलबाला ने एक क्षण के लिए मुझे देखा। फिर किंचित मुस्कुराकर बोली—"अगर मैं यह कहूँ कि कुमार को मैं नहीं जानती, तो—"

"—तो मुझे विश्वास नहीं होगा।"

शैल का अन्तर्मन कुछ व्यथित हुआ-सा लगा—"फिर आपके विश्वास का मैं क्या करूँ?"

मैं एकदम से पूछ उठी—"तो आप उन्हें नहीं जानतीं?"

शैलबाला ने उत्तर नहीं दिया। गहरी नजरों से कई क्षणों तक मुझे देखती रही। फिर बोली—"आप यह सब क्यों पूछ रही हैं? क्या आप कुमार जी को जानती हैं?"

मैं? जानती ही होती, तो दर्द किस बात का था? कुमार तो ऐसे प्राणी हैं कि दूसरे सब उन्हे जानें और अपना उन्हें कुछ न जाने। कैसी विडम्बना है! इसी भाव की कुण्ठा मे मैं चुपचाप शैलबाला को देखती रही। तब एकाएक ही अपने पास से वह चिट निकालकर मैंने शैलबाला के आगे कर दिया। शैल ने चुपचाप वह चिट देखा और फिर वापस एक ओर रख दिया। मैं बोली—"यह आपकी और कुमार जी की निजी बातें हैं। इस सम्बन्ध में कुछ पूछना असंगत होगा। लेकिन क्या आपने ये रुपये कुमार जी को दिये?"

शैलबाला ने उसी तरह मौन मेरी आँखों में देखती हुई स्वीकार किया कि हाँ।

"क्यों दिये?"

"उनकी आज्ञा थी।"

"आप से रुपये लेकर वह क्या करते हैं?"

"यह मैं नहीं जानती।"

"और आप बिना उनको जाने, बिना कारण जाने, रुपये दे देती हैं?"

शैलबाला फीकी हँसी।

"क्या आपके पास अफरात रुपया है?"

"अफरात तो नहीं है।"

"फिर ऐसे क्यों लुटाती हैं?"

"लुटा तो कहाँ हूँ?"

"इसके पहले भी आपने कुमार जी को रुपये दिये हैं?

"दिये हैं।"

"क्यों देती हैं आप?"

शैलबाला ने हैरत से मुझे देखा। फिर जैसे विषय बदलने के लिए उसने पूछा—"आपका राजन से कब परिचय हुआ?"

अनायास ही कटु होकर मैं बोली—"मेरा किसी से परिचय नहीं है !"

शैल हँसी।

मैंने उद्विग्न भाव से उसकी ओर देखा। वह उठती हुई बोली—"न जाने राजन कहाँ चला गया ! मैं अभी भेज देती हूँ।" और उसने आलमारी से एक किताब निकालकर मेरी गोद में रख दी।

मैंने किताब की ओर सिर्फ देखा भर कि उस पर अच्छी जिल्द मढ़ी है। लेकिन उसे खोलकर नहीं देखा कि वह कौन-सी किताब है। फिर शैलबाला के चले जाने के बाद मैं झटके से उठ खड़ी हुई और वहाँ से चली आयी।....

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि एक वृत्त है, जो मुझसे अज्ञात है, जिसकी परिभाषा मुझसे अविदित है। लेकिन वह वृत्त है, जिसमें केन्द्र भी है और परिधि भी है। वृत्त के भीतर हैं यह कुमार और बाहर परिधि पर यह शैलबाला है और राजन है। लेकिन जिसे केन्द्र मानकर यह परिधि खींची गयी है, वृत्त बना है, वह केन्द्र क्या है, इसे मैं स्पष्ट नहीं पा सकी।

शैलबाला, राजन और कुमार; तीनों को लेकर मैं उद्विग्न हो उठी। इन तीनों का सम्बन्ध क्या है ? क्या एक ही केन्द्र के चारों ओर घूमने वाले प्राणी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं ये ? वृत्त के बाहर इनका कोई सम्बन्ध नहीं है ?

और चारों ओर से घूम-थककर मन यही पूछता—यह शैलबाला कौन है ?—यह शैलबाला, जो कुमार को रुपये देती है ? रुपये इसलिए देती है कि उनकी आज्ञा है। सो कुमार की आज्ञा को अपने सिर पर धारणकर चलने वाली यह शैलबाला कौन है ?—कौन है यह ?

तीन दिनों तक मन बहुत उद्विग्न रहा। कहीं घर से बाहर भी न निकली। इनकम टैक्स के लिए कारोबार की वही कलकत्ते तलब की गयी थी, इसलिए भैया घर में ही बैठकर मुंशी जी के साथ वही तैयार करा रहे थे। भैया के बराबर घर में ही बने रहने के कारण मैं घर के बाहर कहीं निकल भी नहीं सकती थी। घर में मैं सिर्फ भैया से ही डरती थी। लगता था कि उनकी पैनी नजर मेरा सब कुछ जानती है। और इस तरह उनकी नजरों में मैं व्यर्थ क्यों जलील होकर प्रकट होती ?

इस बीच कई बार जी में आया कि पति को बुलाकर घर चली जाऊँ और उन्हें घेरूँ कि तुम निरुपमा के हो, निरुपमा का होकर ही रहो। तुम्हारा वृत्त तुम्हारा परिवार है। तुम कोई दूसरा वृत्त न बनाओ। दूसरा वृत्त बनाओगे, तो परिवार का वृत्त छिन्न-भिन्न होगा। लेकिन तभी मन उत्कट हो आता—आदमी क्या परिवार के संकुचित वृत्त में ही कैद होने के लिए है ? परिवार के बाहर भी है, जो विश्व है, ब्रह्मांड है, जिसमें व्यक्तित्व को फैलाकर रखना चाहिए।....और व्यक्तित्व के विकास के लिए निरुपमा भी आजाद है। कुमार भी आजाद हैं—शैलबाला भी आजाद है। लेकिन यह शैलबाला कौन है, कि उसका व्यक्तित्व निरंकुश है, वह सब तरह स्वतन्त्र है। क्या उसका पति नहीं है, जो उसे परिवार में बान्ध सके ?....लेकिन नहीं पति भी है, गोद में बच्चा भी है। लेकिन यह कैसा पति है कि पत्नी को इस प्रकार निरंकुश रखता है ?

शैलबाला आर्थिक दृष्टि से किसी पर निर्भर नहीं है। वह स्वयं उपार्जन करती है। बड़े अस्पताल में नौकरी है, बाहर भी चलती प्रैक्टिस है। अंजुली भरकर रुपये लाती है और मुट्ठियाँ भरकर लुटाती है। उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का यही कारण है। वह पैसे के मामले में

पति पर निर्भर नहीं है। आर्थिक परतन्त्रता का बोझ सिर पर लाद-कर व्यक्ति कभी ऊँचा नहीं उठ सकता।

इन तीन दिनों में मैंने अपनी नौकरी के लिए कई जगह आवेदन-पत्र डाल दिये। मन में यह निश्चय आप-ही-आप बन्ध आया था कि परिवार की परिधि से बाहर निकलकर ही मैं पनपूँगी, बढ़ूँगी और फैलूँगी; कि मरने के बाद लोग जानें कि निरुपमा थी, जो अब नहीं रही।

बही तैयारकर भैया जालन्धर चले गये। वहाँ से कश्मीर जाने का भी विचार लेकर गये थे। दुकान के लिए ऊनी कपड़े लेने थे। गाड़ी उन्हें लेकर प्लेटफार्म से जब बाहर निकल गयी, तब मुझे लगा कि मुझे घेरकर जो मेरे चारों ओर दीवारें खड़ी थीं, वे सब-की-सब टूटकर परस्त हो गयी हैं और मेरे चारों ओर सपाट मैदान खुल आया है, कि मैं किसी भी दिशा में, कहीं भी जाने के लिए स्वतन्त्र हूँ।

प्लेटफार्म के बाहर आकर फिटिन पर आ बैठी। आगे आकर जब गाड़ी सीधे फ्रेजर रोड की ओर बढ़ी, तो मैंने उसे दाईं ओर मोड़ लेने का आदेश दिया। डाक्टर शैलबाला सिन्हा के बँगले के पास आकर गाड़ी रुकवा ली। भीतर आहाते में गाड़ी जान-बूझकर नहीं ले गयी।

राजन के कमरे में शैलबाला थी। बाहर भारी कीमती पर्दा लटक रहा था। राजन और शैलबाला किसी बात पर बहस कर रहे थे। शैलबाला के स्वर में कुछ उत्कटता थी, गर्मी थी, सो मैं बाहर ही रुक गयी।

शैलबाला बोली—"सामान बान्धकर रखवा दिया है, चले जाना!"

राजन की आवाज आयी—"खर्च के लिए मुझे दो सौ रुपयों की जरूरत होगी।"

शैलबाला कुछ गरम हुई—"रुपये नहीं हैं।"

राजन ने कुछ रुखे स्वर में जवाब तलब किया—"क्यों नहीं रुपये हैं ?"

शैल—तुमने बहुत रुपये लिये हैं।

राजन—लिये हैं, सो मेरे पास रखे नहीं हैं।

शैल—रखे हैं या खर्च हो गये, यह मैं नहीं जानती।

राजन ने उभरते हुए क्रोध को दबाया—"साफ क्यों नहीं कहती कि विश्वास नहीं करती हो ?...."

शैल—विश्वास की बात नहीं है। लोग कहते हैं तुम रुपयों को गलत जगह पर खर्च करते हो। रुपयों का हिसाब होना चाहिए।

राजन—तुम हिसाब पूछने वाली कौन हो ?

शैल—तो मैं रुपये देनेवाली ही कौन हूँ ?

राजन भिफरकर बोला—"तो तुम्हें यह अहंकार है कि रुपये तुम देती हो ?"

शैलबाला कुछ नहीं बोली।

कई क्षणों के बाद राजन ने पूछा—"तो रुपये नहीं दे रही हो ?"

"नहीं।" शैलबाला ने स्थिर स्वर में कहा।

राजन—खूब सोच लो !

शैल—सोच लिया है।

राजन—जवाब देना होगा।

शैल—दे लूँगी।

इसके बाद कोई कुछ नहीं बोला। झपाटे के साथ ट्रंक बन्द करने की आवाज आयी। फिर राजन का स्वर सुनाई पड़ा—"कार की चाभी दो !"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"यह डाक्टर शैलबाला की गाड़ी है। तुम्हारी नहीं है।"

"यह जानता हूँ। विज्ञापन करने की जरूरत नहीं है।"

"लेकिन एक बात तुम अब तक नहीं जानते रहे हो कि यह गाड़ी लड़कियों को घुमाने के लिए नहीं है। मेरी भी अपनी प्रतिष्ठा है।"

राजन ने जैसे सन्धि का हाथ बढ़ाया—"ड्राइवर से कहो, वह मुझे छोड़ आयेगा।"

शैलबाला ने दृढ़ होकर कहा—"मुझे स्वयं बाहर जाना है। गाड़ी फुर्सत में नहीं है।"

मैं दबे पाँव बाहर निकल आयी। अपनी फिटिन में आ बैठी, तो कोचवान ने पूछा—"किधर चलूँ?"

मैं बोली—"जरा देर रुक जाओ!"

मैं फिटिन में बैठकर राजन की आगे की गतिविधि की प्रतीक्षा करने लगी। यह शैलबाला मुझे और विलक्षण लगी। यह लक्ष्मी की तरह सहस्रदल कमल पर खड़ी है और उसके दायें-बायें राजन और कुमार खड़े हैं और दोनों के खाली हाथ फैलकर इस भुवलक्ष्मी की ओर अपेक्षा में बढ़े हैं कि दो हे महाभागे! दो सौ अस्सी रुपये दो, दो सौ रुपये दो! लेकिन आज यह भुवलक्ष्मी नाराज है। वह रुपये नहीं देगी, कार नहीं देगी। इसलिए नहीं देगी कि रुपयों को गलत जगह पर खर्च किया जाता है, कार गलत तरह से इस्तेमाल की जाती है।

थोड़ी देर के बाद एक नौकर खाली रिक्शा अन्दर ले गया। रिक्शा जब बाहर आया, तो उसमें राजन शान्तिपूर्वक बैठा था। उसकी आकृति पर आवेग का कोई चिन्ह नहीं था। जैसे कहीं कुछ नहीं हुआ था। रिक्शा जब फिटिन के बगल से गुजरा, तो मैंने टोका—"राजन!"

राजन ने मुस्कुराकर मेरी ओर देखा—"ओ, निरुपमा!" और रिक्शे वाले को उसने ठहरा लिया। बोला—"किधर चली?....मेरे यहाँ?....मैं तो बाहर जा रहा हूँ। अचानक जा रहा हूँ। फरमान मिला कि जाओ! और बस चल दिया।"

मैंने पूछा—"स्टेशन जाओगे?"

राजन कुछ दुविधा में हो आया।

मैं बोली—"जाओगे, तो आ जाओ, फिटिन पर। पहुँचवा देती हूँ।"

सामान फिटिन पर रखवाकर उसने रिक्शे वाले को कुछ पैसे देकर फ़ुर्सत दे दी।

फिटिन जब चली, तो मैंने पूछा—"कहाँ जा रहे हो?"

उसने हँसकर जवाब किया—"बस, चल दिया है, जहाँ पहुँच जाऊँ।"

"कब आओगे?"

"यह काम पर है, जब आने दे—"

"नहीं भी आना हो सकता है?"

"हो सकता है।"

"लड़कर जा रहे हो?"

"लड़कर?—किससे लड़कर?" राजन कुछ चमत्कृत हुआ-सा बना।

"शैलबाला से—"

"ऐसी बात तो नहीं है।"

"नहीं होगी—लेकिन तुम्हारे चेहरे पर लिखा है।"

राजन इस बार फिर हँसा—"लिखे की खूब बात कही।....और ऐसा भी तो हो सकता है कि लिखावट तुम्हें नहीं चल रही है? अँधेरी रात में रस्सी का टुकड़ा भी तो साँप नजर आता है? भई, इसमें न रस्सी के टुकड़े का दोष है और न साँप का—"

मैंने बात बीच में ही ले ली—"देखने वाले का दोष है।"

कुछ देर के बाद राजन स्वयं बोला—"अगले मंगलवार को लौट आऊँगा।"

मैं क्षण-भर राजन की आकृति पर नजर गाड़े देखती रही—"यानी पाँच दिनों बाद ?"

"हाँ !"

"यहाँ आकर ठहरोगे कहाँ ?"

"क्यों ? क्या डाक्टर शैलबाला का बँगला ठहरने लायक नहीं है ?"

"नहीं, वह बात नहीं है। मैं समझी—"

"क्या समझी तुम ?"

"जाने दो, कुछ नहीं समझी।"

राजन मुझपर नजर गाड़े मुस्कुराता रहा—"क्या बात है निरुपमा देवी आज ?....बाईं ओर मोड़ लो भाई, पैरामाउंट होटल चलना है।"

मैंने पूछा—"तुमने तो कहा कि बाहर जाना है ?"

"—तो क्या समझती हो, होटल बाहर नहीं है ? यह होटल घर कब से होने लगा ?"

"वहीं ठहरोगे ?"

"ठहरूँगा नहीं।"

"फिर ?—"

"खाना खाऊँगा।"

"खाना तो कहीं भी, किसी भी होटल में मिल सकता है।"

"लेकिन जाना मुझे पैरामाउंट ही है।"

मैं क्या बोलती ? चुप हो गयी।

साँझ घिरकर काली हो गयी थी। सड़कों पर की बत्तियाँ जल चुकी थीं। घोड़ा सहज चाल से पैरामाउंट होटल की ओर बढ़ता चला जा रहा था।

बगल से एक कार निकल गयी। राजन ने कहा—"शैल-बाला थी।"

और मैं चारों ओर से खिचकर शैलबाला में आ लगी, जिसने अभी थोड़ी देर पहले राजन को रुपये देने से और गाड़ी देने से इन-कार कर दिया था। जिसने राजन को कड़ी बातें कही थीं और जिसका अब राजन को कोई मलाल नहीं था।

शैलबाला के सम्बन्ध में मैंने इधर-उधर पूछा था। मेडिकल कॉलेज के लड़के ने बतलाया कि वह गायनोक्लॉजी में प्रोफेसर है। ज्ञान अच्छा है। विचार भी खुले हैं और साफ हैं। व्यवहार-कुशल है और चतुर है। पढ़ाती अच्छा है। लेकिन और जानकारी की बातें कोई नहीं जानता। किसी फौजी अफसर की पत्नी है, यही लोग जानते हैं। लेकिन वर्मा साहब ने बतलाया कि बैरिस्टर यदुवंश सिन्हा की पत्नी है। यदुवंश सिन्हा कलकत्ते में प्रैक्टिस करते हैं। उन्होंने अपनी पत्नी को छोड़ दिया है। इस तरह शैलबाला सिर्फ शैलबाला थी। आगे का परिचय अज्ञात था।

मैंने पूछा—"यह शैलबाला कौन है राजन?"

"डाक्टर है।" उसने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"सिर्फ डाक्टर-भर ही है?"

"और क्या है?"

"और तुम नहीं जानते कि क्या है?"

राजन ने सिर जरा ऊँचा किया—"क्या जानना चाहती हो?"

"जानने के लिए तो बहुत-सी बातें हैं कि उसका पति कौन है? उसकी गोद में जो बच्चा है, वह किसका है?"

"उसकी गोद में जो बच्चा है, वह शैलबाला का ही है—उसके अपने पति का। अवैध सन्तान वह नहीं है। लेकिन सिर्फ शैल को ही जानकर रखना यथेष्ट नहीं है? नारी का परिचय क्या उसके पति

में ही बन्धा है ? शैल के पति को भी जानना जरूरी है ?" राजन ने प्रश्न को प्रश्न में ही बान्धकर रख दिया।

मैंने पूछा—"उसके पति को तुम जानते हो ?"

"जानता हूँ।"

"क्या करते हैं वह ?"

"अमेरिका में हैं। क्या करते हैं, यह मैं ठीक नहीं जानता। इसलिए नहीं जानता कि मैं यहाँ से देख नहीं पाता। चिट्ठियाँ जो आती हैं, उनसे यही पता चलता है कि वह किसी मस्तिष्क-रोग के निदान में विशेषज्ञता प्राप्त कर रहे हैं।"

"लेकिन इस शैलबाला के सम्बन्ध मे लोग अच्छी धारणा नहीं रखते।"

"अपनी धारणा तो लोग आप बनाते हैं। और लोग इसके लिए स्वतन्त्र हैं।"

"वह सच्चरित्र है ?"

राजन ने गहरी नजरों से मेरी आँखों में देखा। एक क्षण, दो क्षण, और फिर कई क्षणों तक देखकर उसी प्रकार मुझसे पूछा—"तुम सच्चरित्र हो ?"

व्रीड़ा की कुण्ठा में मेरा सिर झुक गया।

पैरामाउंट के सामने फिटिन रुकी। राजन ने एकाएक मेरी बाँह पकड़कर कहा—"आओ !"

उसकी पकड़ में अपनी बाँह पाकर मुझे कैसा-सा लगा। हाथ छुड़ाकर मैंने कहा—"मैं कहाँ जाऊँगी ?"

राजन ने इस बार मेरी कलाई पकड़ी—"अन्दर चलो, और भी बातें हैं, बताऊँगा।"

सामने ट्यूबलाइट में लिखा पैरामाउंट होटल का रंगीन बोर्ड जगमगा रहा था। इस होटल में इस राजन के साथ मैं कई बार आ

चुकी थी। और एक बार पति के साथ भी आयी थी ।....पति !....
मैंने राजन के हाथ से अपनी कलाई झिड़ककर कहा—"नहीं।"

"नहीं क्यों?"

"बस यों ही ।....सामान उतरवा दूँ?"

"मैं तुम्हारा ज्यादा समय नहीं लूँगा।"

"मैं किंचित उत्कट होकर बोली—"कह तो दिया कि नहीं।"

"कुछ जरूरी बातें थीं—"

"देखो राजन, जलील न करो!"

"मैं जलील कर रहा हूँ?"

मैंने आगे बोलना ठीक नहीं समझा। राजन तब आकर गाड़ी में बैठ गया। बोला—"चलो स्टेशन!"

कुछ दूर और आगे आने पर शैलबाला की ब्रोंज रंग की वह फिआट एक बार और आगे से गुजरी। सहसा ब्रेक लगा। मैंने इतना ही देखा कि शैलबाला आगे स्टीयरिङ्ग पर थी। उसने हलकी आवाज में पुकारा—"राजन!"

राजन ने कोचवान को आदेश दिया—"गाड़ी रोक लेना!"

फिटिन चार कदम आगे जाकर रुक गयी। राजन उतरकर शैलबाला की गाड़ी के पास गया। मैं चुप, निष्प्रयोजन जहाँ-की-तहाँ बैठी रही। यह राजन तो चार दिनों पहले देश-सेवा की बातें करता था। किसी ऐसे सुन्दर सार्वजनिक जीवन की बात कर रहा था, जहाँ व्यक्ति आत्मगत न होकर विश्वरत होता है—एकस्थ न रहकर फैलता है—अपने को निज में न रखकर सर्वजन में वितरित करता है। लेकिन जिस लकीर से बन्धा यह राजन स्वयं चल रहा है, क्या सार्वजनिकता वही है? वह वर्ग-संघर्ष को किस प्रकार जारी किये है, वह तो कुछ देख में आता नहीं। वह शैलबाला अपने शिशु के लिए दूध संचित कर रही है और उसी के द्वार पर भिखारी बना यह राजन

खड़ा है। यह जो कुछ लेता है, भीख की तरह ही ग्रहण करता है—अधिकार की तरह तो नहीं। अधिकार की तितिक्षा में वह भ्रम रहा है और आवारा गर्द-जैसा आसमान में इधर-उधर फैल रहा है। क्या इसी प्रकार आर्थिक नियमनता होगी? उस दिन इसने मुझे किस ओर आने का संकेत किया था? शैलबाला का रूप....यौवन....धन....कार....और ये लड़कियाँ! सार्वजनिक जीवन क्या इसी तरह पनपता है?

राजन जब लौट आया, तो सहसा मैं पूछ बैठी—"क्या था?"

राजन के हाथ में दस-दस के कुछ नोट थे। उसे एक किनारे उँगलियों के बीच लेकर उसने फड़फड़ाया। और इस प्रकार उसने समझा दिया कि रुपये हैं, जिन्हें शैलबाला देने आयी थी। फिर उसने नोटों को अपने कोट के भीतर की जेब में डालकर कहा—"पूछ रही थी—फिटिन में कौन है?"

मैंने पूछा—"क्या कहा?"

"कहा कि कोई नहीं है।"

"उसने विश्वास कर लिया?"

"नहीं, हँसने लगी। शायद उसने तुम्हें देख लिया था।"

मन के तल से एक बात उठकर ऊपर आयी और जैसे संघात से जल की तरंग किनारे तक आती है और फिर आवर्त बनकर संघात के मध्य तक लौटती है, उसी तरह वह उठ-उठकर आती रही कि यह शैलबाला मेरे सम्बन्ध में कुछ अन्यथा तो नहीं सोचती है?

राजन ने धीरे से कहा—"कार में कुमार भी था।"

"वह थे?" मेरा कंठ सहसा शुष्क हो उठा।

"हाँ, शायद वही था।"

"........"

"पिछली सीट पर बैठा था। शाल उसने लपेट रखा था।—अन्धेरा था।"

मुझे लगा कि मैं भीतर से अस्वस्थ हो रही हूँ। जैसे-तैसे स्टेशन पहुँची। राजन का सामान उतरवाया। उसने कहा—"बम्बई जा रहा हूँ। सूती मिल मालिकों से समझौता हो गया, तो मंगल तक लौट आऊँगा। नहीं तो—"

राजन के मुँह से शब्द निकलकर आये और कानों में एक अपरिज्ञेय भन्नाहट भरकर चले गये। उसने फिर कहा—"मेरी बातों को याद रखना नीरू, कि तुम्हें भी एक दिन इस संघर्ष में आना है।"

मैंने बातों को बेलाग काटकर एक ओर रखते हुए कहा—"अच्छा!" और कोचवान से कहा—"गाड़ी को तेज बढ़ाकर घर ले चलो!"

गाड़ी से उतरकर मैं अन्दर गयी। पग-पर-पग बढ़ाये जा रही थी और दुविधा भी बढ़ती जा रही थी। किसी व्यक्ति के घर में बैठकर मेरी प्रतीक्षा करते रहने की शंका मुझ में थी। वह पूछेंगे, कहाँ थी? नहीं, वह कुछ नहीं पूछेंगे। कभी नहीं पूछा है। वह सब जानते रहे हैं। पूछकर जानने के लिए वह कुछ नहीं रखते।

बाहर कोई नहीं था। भीतर कोई नहीं था। आकर लौट गये क्या? या अभी यहाँ नहीं आये? बिट्टो की अम्मा से पूछा—"कोई आया था चाची?"

"कोई तो नहीं आया, मेरी समझ से। मैं तो उधर रसोई में थी।" कहकर बिट्टो की अम्मा चली गयी।

मैं जरा आश्वस्त हुई। लेकिन यही स्वस्ति बेचैनी बनकर मन को पीड़ने लगी! क्यों नहीं आये?....और फिर गयी रात तक मैं उनकी प्रतीक्षा करती रही कि न जाने कब आ जायँ।....

: ११ :

दूसरे दिन मैंने उनके पास पत्र लिखा कि क्या एकदम से किनारा काट लेने का ही सोचा है ? घर लौटने देना नहीं चाहते हैं ? ढाई साल से बाहर हूँ । कभी तो लिखा होता कि आ जाओ ! और उसी चिट्ठी में माँ जी के लिए भी लिखा कि उन्होंने ऐसा कैसे समझ लिया है कि निरुपमा है ही नहीं ? कम-से-कम पत्र तो देना चाहिए था । या मुझसे नाता ही तोड़ लेने का विचार आप लोगों ने किया है ?

बात ऐसी नहीं थी कि माँ जी ने कभी पत्र नहीं दिया था । उन्होंने कई पत्र लिखे थे कि नौकरी नहीं करनी है, जो घर छोड़कर पढ़ना हो रहा है । घर में एक लड़का काफी पढ़ा-लिखा है और ठौर से नहीं लग रहा है । परिवार में कुमार है और तुम हो, जिस पर जिम्मेदारी है । लेकिन सभी जिम्मेदारी से भाग रहे हैं । घर इसी तरह टूट-फूट जायगा, ऐसा ही लगता है । और फिर उन्होंने लिखा था कि विधाता पर जोर किसी का नहीं चलता । घर के वही मालिक हैं । तुम दोनों दो घाट जा लगे हो ? तुम सब पढ़े-लिखे हो । उँगली पकड़कर रोक लूँ, बिलमा लूँ, ऐसा जोर मुझमें नहीं है ।

मैंने पत्रों का जवाब दिया था । लेकिन ऐसा कुछ नहीं लिखा था कि जिसमें माँ जी को सन्तोष हो । बाद में मैंने ही पत्रों का जवाब देना बन्द कर दिया ।

पिछली संक्रान्ति में माँ जी से राजगृह प्रवास में जब भेंट हुई, मैंने सामने आकर उनके पाँव छूए, तो वह टक बाँधे मेरी ओर देखती रहीं—गुमसुम। जैसे भीतर कुछ बँध आया हो और शब्द उसी में उलझे हों।

माँ जी की उस तरह की दृष्टि में मैं देख नहीं सकी। सिर झुक गया और उनके पाँवों में आकर मेरी दृष्टि बँध गयी। एक मिनट, दो मिनट, तीन मिनट, और समय दुर्वह हो उठा। तब माँ जी ने पूछा—"पढ़ाई में और कितने दिन लगेंगे बहू?"

मैंने उसी तरह सिर झुकाये हुए अपराधी भाव से कहा—"थोड़े दिन और रह गये हैं।"

"महीने की बात मैं पूछती हूँ कय महीने?"

"तीन-चार महीने—"

"इधर पढ़ाई इतनी थी कि छुट्टी एकदम नहीं हुई?—भेंट करने की भी नहीं?"

मेरा सिर और गड़ आया। इस माँ को मैं क्या जवाब दूँ? ससुराल से घर मैं क्या 'पढ़ना' ही सोचकर गयी थी? लेकिन जब बहाव में अपने को डाल ही दिया, तो—

माँ जी ने पूछा—"तुम दोनों ने घर को छोड़ देने का ही विचार किया है?"

मैंने उनकी गोद में सिर डाल दिया—"नहीं, मुझे ले चलिए!"

और माँ जी यह कहकर चली गयी थीं कि कुमार को भेज दूँगी। लेकिन कुमार नहीं आये। आया उनका पत्र कि अब पढ़ाई बीच में छोड़ना ठीक नही है। परीक्षा निकट है। अभी ही जी लगाकर पढ़ने की जरूरत है।

ख़ैर, बात आयी-गयी हो गयी। इम्तहान में बैठी। रिजल्ट भी हो गया। लेकिन उसके बाद माँ जी का कोई पत्र नहीं आया। मैंने भी नहीं लिखा।

× × ×

शैलबाला का चित्र बार-बार उभर कर आता था। कुमार उसके साथ कार में थे ? या राजन ने झूठ कहा था ? वह शहर में आये, तो यहाँ क्यों नहीं आये ? वह शहर में अक्सर आते रहे हैं। यमुना ने भी कई बार देखा है और मालती ने भी देखा है। शहर के एक किनारे मैं रहती हूँ और दूसरे किनारे वह रहते हैं। यह दस मील की दूरी क्या अब बहुत बढ़ गयी है ? नहीं-नहीं, दूरी कम करनी होगी। वह, जो बहुत ही अलग-अलग भाग रहा है, उसे पकड़ना होगा और पकड़कर पाना होगा, कि वह अपने को समेटकर रखे, यों इस प्रकार इधर-उधर बिखरता न रहे।....

पत्र लिखे चार दिन हो गये। इस बीच मैं विकलता से पति के आने की प्रतीक्षा करती रही। चिट्ठी आज की आज मिल गयी होगी, या फिर कल होकर मिली होगी।....नहीं भी तो मिल सकती है, यह सोचकर मैंने दूसरा पत्र लिखा।

मङ्गलवार आया और चला गया। बुधवार के अखबार में छपा था कि बम्बई और अहमदाबाद के सूती मिल के मजदूरों ने हड़ताल शुरू कर दी है। हड़ताल !—राजन ने कहा था कि अगर मिल मालिकों से समझौता नहीं हुआ, तो—तो शायद समझौता नहीं हुआ। हड़ताल हुई। क्या इसी हड़ताल के लिए राजन बम्बई भेजा गया था ?

दूसरे और तीसरे दिन के अखबार में भी हड़ताल की खबरें थीं। हड़ताल कानपुर में भी शुरू हो गयी थी। ३९ मिलों में पूरी तरह हड़ताल चल रही थी। ५० हजार से ज्यादा मजदूर हड़ताल पर थे। बाद के अखबारों में खबरें आयीं कि लाठियाँ चली हैं, आँसू-गैस छोड़े गये हैं और फिर गोलियाँ भी चली हैं। राजन बम्बई में ही था।

उसी दिन माँ जी की चिट्ठी आयी कि कुमार एक सप्ताह से घर नहीं लौटा है। कहकर भी नहीं गया कि कहाँ जा रहा है। वह कभी कहकर जाता भी नहीं है। इधर वह बराबर घर से बाहर रहा है।

उस दिन माँ जी का वह पत्र हाथ में लेकर मैं यही सोचती रही कि कुमार परिवार में बन्धकर चलने वाले व्यक्ति नहीं हैं। वह कहीं भी बन्धकर नहीं चलेंगे। लेकिन वह, जो तोड़कर चले गये हैं, कहाँ गये होंगे? मुझमें एक शंका उठी—बम्बई?—हड़ताल? और फिर मन की विकलता बढ़ आयी।

उस दोपहर में ही गाड़ी जुतवाई। शैलबाला के यहाँ बतलाया गया कि डाक्टर नहीं हैं। अस्पताल से अभी नहीं लौटी हैं। कोई मेहमान आज ही आये हैं—बम्बई से। कमरे में लेटे हैं। मैं राजन के कमरे की ओर बढ़ी—क्या राजन आया है? शायद वह उनके बारे में तफसील से बतला सके।

भीतर कमरे का रंग-ढंग कुछ बदला-सा दीखा। लेकिन कहाँ बदला है, यह स्पष्ट नहीं हुआ। एक ओर जो पलंग डली थी, उस पर शैलबाला का बच्चा गाढ़ी नींद में सो रहा था। उसके बगल में एक व्यक्ति सिर से पाँव तक अपने को चादर से ढँके लेटा था। मैंने पुकारा—"राजन! राजन!!"

जिसे राजन कहकर पुकारा गया था, वह चादर के भीतर ही जैसे कुछ सजग हुआ; और फिर अच्छी तरह चादर ढँक लेकर सो गया कि कोई उठाये नहीं। मैंने बढ़कर सिर की ओर से चादर जरा

एक ओर खींच ली। देखा, पति थे। आँखें खुली थीं और मुस्कुरा रहे थे।

एकाएक इस तरह पकड़ी जाऊँगी, ऐसा सोचा नहीं था। उघर-कर, निरावरण होकर मैं पलंग की पाटी से सटकर खड़ी रही; जैसे काया नहीं होऊँ, आत्मा होऊँ—सूक्ष्म नहीं, स्थूल, जो देखी जाय—बिना काया के आच्छादन के देखी जाय, नंगी देखी जाय। और उसी प्रकार विजड़ित मैं खड़ी रही। उनकी मुस्कान पहले खिली और तब खुल आयी—"मैं तो हूँ, उस तरह क्या देख रही हो?"

लेकिन मैं, क्या देख रही थी? नहीं! आँखें खुली थीं और आगे जो कुछ था, वह आँखों में समा नहीं रहा था। यों समझा जाय कि आँखें थीं और दृष्टि अस्त थी—किसी अज्ञेय तुरीय लोक में अस्त।

उन्होंने अपने को हाथों के बल उठाते हुए टोका—"नीरू!—निरुपमा!"

शब्द मुझमें नहीं आये। बाहर ही रहे।

उन्होंने उँगलियाँ पकड़कर खींचा—"नीरू!"

जैसे मैं नहीं थी, उसी प्रकार देखा।

तब वह अनाश्वस्त सशंक नीचे उतर आये। मेरी ठोढ़ी पकड़कर अपनी ओर घुमाया—"क्या बात है नीरू?"

मुझे कुछ बोल आया नहीं। मैंने उनकी छाती पर अपना सिर टेक दिया।

उन्होंने मेरी पीठ अपने दायें हाथ से सहलायी—"अच्छी तो रही?"

और जवाब में मैंने उनकी छातीपर अपने को और ढीला कर दिया!

उन्होंने मुझे संबोधा—"ऐसा नहीं होना चाहिए नीरू!—ऐसा नहीं। अपने में विगलित हो रही हो? गलकर तो कुछ नहीं होगा। सख्त होकर ही होगा।" और उन्होंने मुझे ले जाकर सोफे पर बैठा दिया।

मैं सोफे पर बैठी रही और जमीन देखती रही, जिस पर कार्पेट बिछा था और जिस पर रंगीन फूल कढ़े थे। और मैं सोच रही थी—मुझमें जो कुछ अभी हो रहा है, वह गलना ही है? लेकिन सख्त होना कैसे हो सकेगा?—किस लिए हो सकेगा? लेकिन गलना और सख्त होना क्या अर्थ रखता है? और मेरा मन शब्दों में ही घूमता रहा, अर्थ तक नहीं पहुँचा।

वह बोले—"रिजल्ट तो हो गया। बधाई!"

मेरा सिर क्या उठने के लिए झुका था? उसी तरह 'किम्-कथम्' में बन्धी रही।

तब वह मेरे निकट से हटकर पलंग तक गये और शिशु को अपनी चादर से छाती तक ढँक दिया। स्वयं पलंग के एक ओर बैठते हुए बोले—"क्या सोच रही हो?....या नाराज हो? और अपनी नाराजगी कैसे प्रकट करूँ, यही सोच रही हो?"

मुझे तो जैसे बध लग गया था, उसी तरह बैठी रही।

उन्होंने तब दोनों हाथों को छाती पर समेट लिया। और बगल में बैठे शिशु की ओर गम्भीर दृष्टि से देखते रहे। उसी प्रकार कई मिनट बीत गये और मैं समय की सीमा से पार अनवगत बैठी रही। मन में लेकर कुछ सोच रही होऊँ, वह बात भी नहीं थी। बस सपाट मैदान-जैसा बना था और उसमें हवा अबाध गति से साँय-साँय चल रही थी।

उन्होंने उसी प्रकार बैठे पूछा—"घोड़ागाड़ी पर आयी हो?"

शब्द मेरे भीतर आकर रुका। मैंने सिर उठाया नहीं, जरा-सा हिला दिया कि हाँ!

तब वह पलंग से उतरकर नीचे आये। आया को पुकारा। आया उनके स्वर से लगी चली आयी। उन्होंने आया को समझाया—"देखो,

बच्चा सोया है, निगरानी रखना ! और मैं—मैं देखो—" वह मेरी ओर मुड़कर बोले—"चलें नीरू !"

मैं उनके स्वर से बन्धकर उठी और उनके पीछे-पीछे आकर गाड़ी में बैठ गयी ।....

रास्ते भर म यही सोचती रही कि विजड़ित करने वाला यह भाव मुझमें बार-बार क्यों जाग रहा है ? अपराधिनी-सी मैं इस तरह क्यों घिर-बन्ध आयी हूँ और अँधेरी पड़ती जा रही हूँ ? यह अपराध कहाँ है ? क्या शैलबाला के यहाँ मेरा आना अपराध है ?—नहीं है—नहीं है । मैं अपने भीतर जोर से चीखी कि मेरी बहरी बनती जा रही अन्तर्चेतना सुन ले कि अपराध कुछ नहीं है । यह मन की कमजोरी है । लेकिन मन फिर भी न बन्धा । दृढ़ता कहीं भी नहीं आयी । और चुपचाप वह राह खतम हो गयी ।

बाहर बैठक में कोई नहीं था । इसलिए पति पीछे चलते मेरे साथ भीतर कमरे में चले आये । जैसे बहुत लम्बी राह काटकर आये हों, उसी तरह हारे-थके-से वह एक ओर सोफा में बैठ गये । मैं उनके पाँवों के पास आ बैठी कि जूते खोलकर निकाल दूँ । लेकिन देखा कि पाँवों में जूते नहीं हैं, चप्पल हैं और स्वतः ही पाँव से अलग होकर पड़े हैं । वहाँ किसी की अपेक्षा नहीं है । जो कुछ है, स्वयं का है, स्वतः में बन्धा है । मेरे मन में उठा—यह व्यक्ति चारों ओर फैलकर भी कितना एकस्थ है । और मैं वहीं बैठी उन चरणों में देखती रही । देखा कि वे चरण अब सहज कोमल नहीं रह गये हैं—रुक्ष हो आये हैं । और ये भागते बहुत हैं । क्या मैं इन चरणों को अपने में बान्ध नहीं सकती ? क्या यह व्यक्ति सदा इसी तरह भागता ही रहेगा ? और भागते-भागते एक दिन गिरकर समाप्त हो जायगा ?

मैंने सिर उठाकर उनकी ओर देखा। वह अपलक मुझे ही देख रहे थे। मैंने उनके घुटनों में सिर डाल दिया। उसी प्रकार कई क्षणों तक अवश बनी रही। तब उनके हाथों का स्पर्श अपने सिर पर अनुभव किया। आँचल न जाने कब सिर से अलग हो गया था। उन्होंने उस खुले सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"नीरू!—नीरू!!"

तब मुझे लगा कि उस स्वर ने और उस स्पर्श ने मेरे भीतर का कुछ खोल दिया है और उस खुली राह से न जाने कैसा रस अबाध बह आने को तैयार है। मैंने और जोर से अपना सिर उनके घुटनों में गड़ा दिया। तब उन्होंने मेरा सिर अपने दोनों हाथों में थामकर ऊपर उठाया—"नीरू!"

एक बार आँखें खोलकर मैंने उन्हें देखा और जब पलकें बन्द कीं, तो न जाने कैसे कहाँ से आँसू ढरक आये। मैंने उनके हाथों से अपना सिर छुड़ा फिर उन्हीं घुटनों में डाल दिया और फफककर बोली—"मुझे आप कब तक दण्ड देते रहेंगे?"

पति जैसे चमत्कृत होकर बोले—"दण्ड?"

"हाँ, दण्ड!"

वह व्यथित हो उठे—"मैं दण्ड दे रहा हूँ?"

मैंने सिर उठाकर उनकी आँखों में देखा। वे आँखें बहुत भाव-संकुल हो रही थीं। जैसे उन्हीं आँखों से मैंने पूछा—"दण्ड नहीं, तो क्या दे रहे हैं?"

वह कई क्षण मेरी आँखों में थमे रहे। तब बोले—"तुम समझती हो, मैं दण्ड दे रहा हूँ? लेकिन नीरू, सत्य तो यह है कि मैं दे नहीं रहा हूँ, पा रहा हूँ। न जाने किस पूर्व जन्म के अपराध का दण्ड—"

सहसा वह चुप हो गये, जैसे कण्ठ में कहीं कुछ अँटक गया हो। फिर ठहरकर बोले—"सोचता हूँ, पाता इसलिए हूँ कि कहीं दे अवश्य रहा हूँ। जब तक भीतर का भरा चुकेगा नहीं, तब तक भरेगा कैसे?

और आज जब तुम कह रही हो, तो मुझे लगता है कि मैं अपना अर्जित सब शोक-संताप तुम्हें ही दे रहा हूँ। पत्नी तो अर्द्धांगिनी होती है न? पति के पाप का, पुण्य का, सुख का, दुख का आधा भाग वह बँटाती है! लेकिन मैं भी कैसा हूँ कि सुख स्वयं भोगता हूँ और दण्ड तुम्हें भी भोगना पड़ता है। सोचता हूँ, क्या करूँ?—क्या करूँ नीरू!"

मैंने कहा—"मुझे घर ले चलिए!"

"घर तो चलना ही है।"

"आज ले चलिए—आज!"

"आज?"

"हाँ, आज!"

कुछ क्षण सोचकर वह बोले—"आजका चलना क्या रुक नहीं सकता?"

"नहीं, अब प्रत्येक क्षण यहाँ पहाड़ मालूम पड़ता है।"

"—तो चलो;—लेकिन अभी मुझे यहाँ कुछ काम था। वहाँ से तुरत लौट आने की इजाजत क्या दोगी?....देखो, माँ जी आ रही हैं।"

मैं कपड़े सम्हालकर उठ खड़ी हुई। पति ने माँ के सामने खड़े होकर हाथ जोड़े। माँ ने प्रसन्न मुद्रा में पूछा—"कब आना हुआ?"

पति बोले—"अभी ही।"

"घर का क्या हाल है?"

"ठीक है।"

माँ ने मेरी ओर मुड़कर कहा—"नाश्ते के लिए कह दिया है न?"

मैं चुपचाप कमरे के बाहर आ गयी।

पति ने बैठते हुए कहा—"निरुपमा को तो अब राजापुर जाना चाहिए माँ! आज आप जाने की व्यवस्था कर देतीं।"

माँ सहसा पूछ बैठी—"आज?"

"क्यों, आज कठिनाई है क्या ?"

"कठिनाई कैसे नहीं है ? बेटी को ससुराल भेजना है, तो खाली हाथ तो भेजा नहीं जायगा ?"

"लेकिन इसे तो आज जाना ही चाहिए।"

माँ एकदम से दृढ़ अस्वीकार में बोली—"बाबू, यह कैसे होगा ? आज तो आये ही हो। दो-चार दिन तो ठहरना ही होगा। एक तो यों ही साल-दो-साल पर आते हो। इतनी जल्दी लगी काहे की है ?"

पति इसपर चुप हो आये।

साँझ में नाश्ता करने के बाद वह घूमने बाहर चले गये।

घूमने गये या कहाँ गये, यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता; लेकिन उन्होंने बतलाया कि घूमने जा रहे हैं, और फिर रात के बारह बज जाने पर भी वह वापस नहीं लौटे, तो मैं अपने भीतर अस्थिर हो उठी। दरवाजा खोलकर बाहर बैठक में आयी, तो देखा रोशनी जल रही है और पति टेबुल पर झुके कुछ लिख रहे हैं। लिखकर उन्होंने खतम किया और फिर कागज को मोड़कर लिफाफे में रखा। पता लिखा और लिफाफे को एक ओर डाल दिया।

लिखना खतम कर जैसे निवारण नहीं मिला, उसी तरह व्यस्त भाव से वह उठ खड़े हुए। कुछ कदम चलकर वह खिड़की की ओर गये और फिर वापस लौटे। ऐसे लौटे कि जो कुछ करना शेष रह गया है, उससे निवृत्ति पा लें। लेकिन टेबुल तक आकर वह खड़े हो गये, जैसे मन को निर्णय नहीं मिला हो। और फिर खिड़की की ओर बढ़े। टेबुल और खिड़की के बीच का जो फासला था, वह मन के भीतर के फासले से छोटा था। और मन को मंजिल तक पहुँचाने के लिए वह बार-बार फर्श के फासले को नाप रहे थे।

फिर वह आराम कुर्सी में आ लेटे और अपने पाँव सामनें की छोटी कुर्सी पर फैला दिये। सिर को दाहिने हाथ की उँगली और

अँगूठे के बीच लेकर वह कुछ सोचते रहे। फिर झटके से उठे। लिफाफे को उठाया। उसके गोंद लगे किनारे को दो-एक बार जीभ पर घुमाया और चिपका दिया। लिफाफे को ऊपर की जेब में डाल वह बाहर चले गये। बाहर जाने के पहले उन्होंने बत्ती बुझा दी और दरवाजे को बाहर से बन्द कर दिया।

अन्धेरे में खड़ी कई क्षणों तक मैं सोचती रही। उन कुछ क्षणों में मैंने क्या सोचा, अब स्मरण नहीं है। इतना स्मरण है कि मैं उस अन्धेरे में ही टटोलकर आराम कुर्सी में आ लेटी। मन में बार-बार यही उठता कि क्या था उस चिट्ठी में ? वह चिट्ठी किसे लिखी गयी है ? वह आज इतना परीशान क्यों हैं ? ऐसे ही न जाने कितना समय निकल गया।

कि दरवाजा खुला। बैठक में रोशनी कर दी गयी। पति लौट आये थे। मुझे बैठक में देखकर वह जरा हैरान हुए। बोले—"तुम, नीरू, यहाँ....अभी सोयी नहीं ?"

मैं चुपचाप कुर्सी से उठकर खड़ी हो गयी। धीरे से कहा—"चलिए !"

और वह अनुगत चुपचाप मेरे कमरे में चले आये। आकर पलंग के सिरहाने अपने को टिका दिया और आराम से अधलेटे हो गये। जैसे अब जाकर फुर्सत मिली हो।

मेरी जिज्ञासा अधिक देर तक मौन न रह सकी। मैंने पूछा—"कहाँ गये थे ?"

उन्होंने मेरी ओर देखकर पूछा—"मुझसे पूछती हो ?"

मैं शान्त स्वर में बोली—"पूछती हूँ, इसका यह अर्थ नहीं है कि आपसे जवाब-तलब कर रही हूँ। बस, यों ही जानना चाहती थी कि कहाँ गये थे ?"

वह उसी तरह मेरी ओर देखते रहे।

मैंने पूछा—"शैलबाला के यहाँ गये थे?"

उनके ओठ हिले। मन के भीतर जैसे उन्होंने कुछ जवाब दिया, लेकिन बाहर शब्द बनकर कुछ फूटा नहीं। वह उसी तरह मुझे पढ़ पाने के लिए देखते रहे। कई क्षणों तक वह कुछ नहीं बोले, तो मैं रसोईघर में लौट आयी और उनके लिए थाली लगाने लगी!

थाली देखकर वह बोले—"ओ, खाना! यह तो र'ही गया था।....लाओ, इसी पर—" और वह पलंग पर ही एक ओर पड़े अखबार को बिछाने लगे।

मैंने अखबार डालकर उस पर थाली रख दी। वह जब खाने लगे, तो मैं पलंग के पैताने आ बैठी—यह क्या खाने का समय है? सब कुछ तो ठण्डा हो गया है—बेस्वाद। और यह न जाने कहाँ अब तक घूम रहे थे? तभी मेरे मन में शैलबाला की मूर्ति उदित हुई और बढ़ती गयी—बड़ी होती गयी। मैं बोली—"एक बात पूछूँ?"

उन्होंने सिर उठाकर मेरी ओर देखा—"कैसी बात?"

"यह शैलबाला कौन है?"

वह हँस पड़े—"रहेगी कौन? डॉक्टर है—बड़े अस्पताल में काम करती है।"

"आप उसके सम्बन्ध में इतना ही जानते हैं?"

"उसके पास जानने लायक और क्या है?" उन्होंने मेरी आँखों में गहरा उतरना चाहा। और तब एकाएक ही नजरें लौटाकर बोले—"मैंने जो तुम्हें आज बतलाया था कि एक आवश्यक काम है। वह खतम हो गया। अब तुम जब चाहो, घर चलो!"

मैंने पूछा—"रबड़ी और ला दूँ?"

उन्होंने थाली एक ओर सरका दी और पलंग से उतर आये।

इलायँची लेते हुए उन्होंने कहा—"माँ जी यहाँ चार दिनों रुकने को कहती हैं। लेकिन रुकना तो शायद संभव नहीं दीखता।"

"कहीं जाना है क्या ?"

"कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता।" फिर कुछ क्षण ठहरकर उन्होंने पूछा—"तुम अकेले राजापुर नहीं जा सकती ?"

मैंने वैसे ही कहा—"जा क्यों नहीं सकती ? लेकिन माँ क्या मुझे इस प्रकार अकेले वहाँ जाने देगी ?"

मुझे लगा कि पति कुछ कहना चाहते हैं, और वह 'कुछ' बार-बार भीतर से आकर कण्ठ में रह जाता है। कुछ देर तक मैं वहाँ व्यर्थ-जैसी खड़ी रही, कि पति बोले—"राजन को गोली लगी है।"

मैंने पूछा—"आप बम्बई जाइएगा ?"

"जाना चाहिए या नहीं, यही सोच रहा हूँ।"

मैं एकाएक दृढ़ होकर बोली—"नहीं, वहाँ जाने की कोई जरूरत नहीं है।"

वह हँसे—"तो कहाँ जाने की जरूरत है ?"

"जरूरत है घर जाने की।" और सहसा मेरा स्वर तेज हो आया—"घर से, परिवार से भागकर भटकना ही क्या पुरुषार्थ है ?"

उनकी आकृति पर उसी प्रकार मुस्कान फैली रही—"पुरुषार्थ तो नहीं है। लेकिन परिवार के बाहर जो कुछ है, उसकी ओर से आदमी आँख मूँद ले, वह क्या है ?"

"चाहे जो हो, लेकिन अब आपका भागना नहीं होगा।" मैं जैसे अपना अन्तिम निर्णय सुना रही होऊँ—"आपको पहले राजापुर चलना है।"

वह कुछ बोले नहीं। उसी तरह मुझे देखते रहे। उनके ओठों पर की मुस्कान में निगूढ़ता भरती गयी।

: १२ :

मुझे राजापुर पहुँचाकर पति चले गये। दूसरे दिन एक चिट मिला। कोई कॉलेज का छात्र दे गया था। लिखा था—'जल्दीबाजी में बाहर जा रहा हूँ। कब लौटूँगा, अभी ठीक नहीं बतला सकता। चिन्ता करने की कोई बात नहीं है।' नीचे उनका नाम था।

यह पत्र किसे लिखा गया था? मुझे?—या पिता जी को? या माता जी को? और वह पत्र भी तो नहीं था। सूचना थी कि मैं बाहर जा रहा हूँ, लोग अनावश्यक चिन्ता न करें। मैं जानती थी कि वह रुकेंगे नहीं, जायँगे ही, लेकिन क्या कह नहीं सकते थे कि जाऊँगा? क्या वह मुझे अपना विश्वास कभी नहीं दे सकेंगे? वह चिट अपने हाथ में लेकर न जाने मैं कब तक क्या-क्या सोचती रही। तब मुझे लगा कि मुर्दा सीपी की तरह सागर ने अपने अनन्त लहरों के सहारे मुझे किनारे पर लाकर छोड़ दिया है और इस सुनसान कूल पर अकेली पड़ी मैं किसी के प्रयोजन के लिए नहीं रह गयी हूँ। उसी प्रकार व्यर्थ बनी मैं बैठी रही।

माँ जी (सास जी) ने आकर टोका—"बहू!"

जैसे अभी-अभी स्थिर पड़े पानी में किसी ने उँगली डाल दी। मध्य से एक चक्राकार आवर्त उठा और कूल से टकराकर फिर विवर्तित हुआ। मैंने अबूझ भाव से सिर उठाकर माँ जी की ओर देखा। माँ जी बोलीं—"क्या बात है बहू?"

मैंने अपने हाथ के उस चिट को माँ जी की ओर बढ़ा दिया। उन्होंने उसे अपने हाथ में लेते हुए पूछा—"क्या है यह?"

"चिट्ठी है।"

"किस की चिट्ठी है?"

"उन्होंने भेजी है।"

"क्या लिखा है?"

"कहीं बाहर गये हैं।"

"कहाँ?"

"सो नहीं लिखा है।"

"कब तक आयगा?"

"सो भी नहीं लिखा है।"

इन सारे प्रश्नों के बीच माँ जी मेरी आकृति को देखती रहीं। देखकर उन्होंने मुझमें क्या पाया कि पूछ बैठीं—"इसमें चिन्ता की बात भी है क्या बहू?"

मैंने अकचकाकर पूछा—"किसमें?"

"यही, जो कुमार बाहर गया है—"

मैं कुछ जवाब नहीं दे सकी। जमीन की ओर सिर झुकाये रही। वह अवश्य ही बम्बई गये हैं। बम्बई में राजन है। वहाँ हड़ताल करायी गयी है। गोलियाँ चलती हैं। पति भी वहीं गये हैं। इसमें चिन्ता की बात है या नहीं, यह मैं निश्चित नहीं कर सकी। भीतर करुणा-जैसा कुछ सजल-सजल फैलने लगा। आँखों के आगे बहुत-से पुच्छल तारे उगे और तीव्र गति से सौर-मण्डल में घूमने लगे। उन्हीं पुच्छल तारों के प्रकाश में भारत का मानचित्र स्पष्ट हुआ। वह मानचित्र फैलकर नदी-नाला, पहाड़, शस्य-श्यामल भूमि बना। फिर उसमें अनन्त लोगों की अपरिचित आकृतियाँ प्रकट हुईं। फिर लगा कि इस अपरिमित जनसंख्या को, शस्य-श्यामल भूमि को रौंदता हुआ आर्थिक-संक्रमण का एक भारी रथ तीव्र गति से चला जा रहा है। रथ पर

सामन्तों, जमींदारों, पूँजीपतियों और बड़े-बड़े भूमिपतियों की भारी लाशें लदी हैं। उस रथ के चक्के को काँग्रेसी सरकार खींच रही है।

रथ के चक्के के नीचे लोग पिस रहे हैं। ऐसे ही पिसे या पिस रहे पढ़े-लिखे लोगों का दल है, जो आर्थिक क्रान्ति चाहता है, सामाजिक व्यवस्था में नियमन चाहता है। वे उत्पादन के साधनों और निमित्तों को संगठित करने में लगे हैं। वे प्रेरणा पाते हैं मार्क्स से, लेनिन से। और शर्माएदार उन्हें कहते हैं कि उनके कदम राष्ट्रीयता के विरुद्ध हैं। राष्ट्र को व्यक्ति-निष्ठ होना चाहिए या समाज-निष्ठ? समाज-निष्ठ होना चाहिए, तो उसका राष्ट्रीय रूप कौन निर्धारित करेगा? और वह रूप क्या होगा? कुमार, राजन और न जाने देश के कितने असंख्य लोग परिवार से विच्छिन्न होकर उस आर्थिक क्रान्ति में योग दे रहे हैं। परिवार का दायरा टूटता जा रहा है।....लेकिन कुमार? कुमार ने क्या इसी आर्थिक क्रान्ति के लिए परिवार को छोड़ा है? या उन्होंने मेरे कारण परिवार से अपने को तोड़कर निकाल लिया है?....

मैंने माँ जी से पूछा—"पिछले ढाई साल में वह इसी तरह बाहर-ही-बाहर रहे हैं क्या माँ?"

माँ जी ने जैसे बँधी साँस को मुक्त किया हो, उसी स्वर में कहा—"घर का तो वह कभी नहीं रहा बहू! विवाह हुआ, तो मैंने सोचा कि अब बंधेगा, घर का होकर रहेगा। लेकिन तुम लोगों का—" और उनके कण्ठ में कुछ भर आया। वहाँ वह और अधिक नहीं रहीं।

उस रात मैंने जैसे-तैसे मुँह में कुछ रखा और पलंग पर आ लेटी।

एक सप्ताह तक उनका कोई समाचार नहीं मिला। यहाँ घर की स्थिति बहुत विषम थी। आर्थिक रीढ़ टूट चुकी थी। सारा ढाँचा ही बिगड़ा हुआ था। ऐसी ही विषम स्थिति में मैं पति के घर पहुँची थी। घर से चलते समय माँ ने मुझे कुछ रुपये दिये थे। उन्हीं से मैंने काम आनेवाली आवश्यक चीजें मंगवा लीं। लेकिन ऐसे कब तक काम

चलेगा ! इस प्रश्न का कहीं सुलझाव नहीं था। इस बीच मैंने बार-बार यही सोचा कि क्या इस परिवार की सारी जिम्मेदारी पति पर ही है ! मैं क्या इस परिवार से अलग हूँ ? सो मैंने कई हाइ स्कूलों में तथा कॉलेजों में लेक्चरर के लिए अपना आवेदन भेज दिया।

चार दिन और निकल गये।

इस बीच मैंने कई बार माँ जी को देखा कि वह मुझे जब एकान्त और खाली पातीं, पास आकर बैठ जातीं। उनकी आकृति बहुत व्यथित लगती। और उस व्यथा में लगता कि अपने भीतर वह विकल रहती हैं। मुझसे कुछ पूछना चाहती हैं, जानना चाहती हैं। लेकिन मुँह पर कुछ लाना नहीं चाहतीं। एक दिन मैंने पूछा भी—"क्या बात है माँ !"

वह जल्दी से बोलीं—"कुछ तो नहीं है।" और घबड़ायी-जैसी मेरे पास से उठकर चली गयीं।....

पति का समाचार नहीं मिलने से मैं भीतर-ही-भीतर घबड़ा रही थी। एक बार शैलबाला से मिलने के लिए जी बेचैन हो रहा था। इसी निमित्त से मैंने उस दिन सवेरे खाना तैयार किया और साँझ होते ही शैलबाला के यहाँ जाने के लिए तैयार हो गयी। माँ जी जब मेरे कमरे के सामने से निकलीं, तो रुक गयीं। पूछा—"कहीं जाना है क्या बहू ?"

जाना तो है ही। लेकिन इस माँ जी से क्या कहूँ कि कहाँ जाना है ? शैलबाला का नाम लेना क्या ठीक होगा ? मैं बोली—"जरा पिता जी से मिल आना है माँ जी ! मेरे आते समय उनकी तबियत अच्छी नहीं थी।"

माँ जी जाने के लिए मुड़ीं। लेकिन उनके भीतर कहीं सन्देह जागा कि वह रुकीं और पूछा—"कहीं और तो जाना नहीं है न ?"

"नहीं तो—"

"जरा जल्दी लौट आना।" कहती हुई माँ जी चली गयीं।

शैलबाला घर पर नहीं थी। मालूम हुआ कि राजन बाबू तीन दिनों पहले बम्बई से लौटे हैं। बगल वाले कमरे में टिके हैं।

राजन तकिये के सहारे लेटा किताब देख रहा था। मेरे पाँवों की आहट पाकर उसने सिर ऊपर उठाया—"ओ ! निरुपमा, तुम—"

मैं बीच कमरे में पड़ी कुर्सी का सहारा लेकर खड़ी हो गयी। राजन ने पूछा—"अच्छी तो रही तुम—"

मैं निरुद्वेग बोली—"सब ठीक है। तुम कैसे हो ?"

राजन मुस्कुराया—"कैसा लग रहा हूँ ?"

मैंने क्षण-भर उसकी आकृति की ओर देखा और फिर नजरें फिरा लीं। उधर आलमारी में सजी किताबों की ओर देखा। दीवारों पर लगे चित्रों की ओर देखा। सामने वान गॉग की वही तस्वीर थी—कृशकाय माँ और बीमार भूखा शिशु। मैंने एक बार फिर राजन को देखा। वह टक लगाये मेरी ओर ही देख रहा था। मैंने पूछा—"तुम्हें गोली लगी थी ?"

राजन क्षण-भर चुप रहा। फिर धीरे-धीरे करुण हो आया—"गोली लगने से क्या हुआ ? मैं तो जैसा-का-तैसा जिन्दा ही रह गया ! इसलिए जिन्दा रह गया कि दूसरे का नेतृत्व अपने कन्धों पर डालकर ढोता चलूँ।"

राजन का स्वर बहुत गिरा था। लगा कि उसका दर्द शब्दों के सहारे तैरता हुआ मेरे अन्तर्मन में बहुत भीतर घुस आया है। तब क्या यह राजन भी मरने के लिए बेचैन है ? यहाँ सभी तो बेचैन हैं। सभी जिन्दगी से भागना चाहते हैं—कुमार, राजन, सभी। और मैं ?

मैं भागकर कहाँ जाऊँ ? मृगतृष्णा में हूँ कि इसी तरह भाग-दौड़ में जिन्दगी मिल जायगी। इसी से मौत से दूर भागती रहना चाहती हूँ। लेकिन भागते-भागते अब मेरे पाँव निःशक्त हो गये हैं। मुझे ठाँव चाहिए, छाँव चाहिए, विश्राम चाहिए। और मैं निःशक्त-सी उसी कुर्सी पर बैठ गयी।

राजन ने उसी प्रकार आर्द्र स्वर में पूछा—"जी अच्छा नहीं है क्या नीरू ?"

मेरे भीतर की गति जैसे मर गयी हो, उसी स्वर में बोली—"लेडी डॉक्टर कहाँ हैं ?"

राजन अपने में विचलित होकर पलंग पर उठ बैठा—"क्यों ? क्या बात है ?....अभी तो यहीं थी।"

राजन पलंग से उतरकर मेरे पास की एक कुर्सीपर आ बैठा। उसकी आकृति पर की सद्यागत चिन्ता तथा भाव-संकुलता देखकर मैं फीकी हँसी—"डॉक्टर से ही मिलने आयी थी।"

"तुम बीमार हो ?"

और तब मुझे लगा कि मैं एक अरसे से बीमार रही हूँ। रोग मुझे भीतर-ही-भीतर कुतरता रहा है ! मैंने उसी प्रकार हँसकर पूछा—"क्या मैं बीमार लग रही हूँ ?"

"ऊपर से तो वैसा नहीं लगता। लेकिन सभी रोगों को सिर्फ आकृति देखकर जान लेना सम्भव है ?"

मैंने बातों के बीच से अपने को निकालना चाहा—"तुम्हें गोली कहाँ लगी थी ?"

राजन ने अपने कुरते का बटन खोला। पुट्ठे पर से कपड़ा हटाया। वहाँ अब भी पट्टी बँधी थी। उसने कहा—"पुट्ठे पर का मांस छीलती हुई गोली निकल गयी थी। हलका घाव था। अब तो एकदम अच्छा हूँ।"

"बम्बई का क्या हाल है ?"

"हड़ताल चल रही है ।"

"कुमार बम्बई में ही हैं ?"

"हाँ, हैं । मिल मालिकों से समझौते की बात चल रही है ।"

"समझौता हो जायगा ?"

"वह तो होगा ही । रोज गोली चलाना और वर्षों हड़ताल जारी रखना तो सम्भव है नहीं ।"

"समझौता होने के बाद ही कुमार लौटेंगे ?"

"कुमार का प्रोग्राम तो तुम जानो या शैलबाला जाने । मैं तो जानता नहीं, करता हूँ । और जो करता हूँ, उसे भी नहीं जानता कि क्या हो रहा है । तुमने गीता पढ़ी है ?" और राजन ने एक श्लोक पढ़ दिया—"नियतं कुरु कर्म त्वं....सो जो कर्म नियत कर दिया जाता है, उसे करता हूँ । क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अच्छा है । और कर्म न करने से भी क्या समय का निर्वाह होगा !—शरीर-निर्वाह होगा ?"

अपनी दृष्टि में प्रश्न लिये स्थिर पलकों से राजन मेरी ओर देखता रहा । फिर बोला—"आज शैलबाला को कोई तार मिला है । गतिविधि तो वही जानती है ।" राजन ऐसे बोल रहा था, जैसे उसकी किसी चीज में दिलचस्पी नहीं रह गयी है ।....

शैलबाला साढ़े आठ बजे रात में लौटी । मेरे आगे आकर उसने विनत भाव से हाथ जोड़े और विमुग्ध कई क्षणों तक देखती रही । फिर मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोली—"आइए, मेरे कमरे में आइए !"

न जाने किस आकर्षण में बन्धी मैं उसके पीछे बढ़ती चली गयी ।

शैलबाला का कमरा अति साधारण था । शायद उसे कमरा कहना ठीक नहीं होगा । कमरा शब्द जैसे अपने में कुछ विस्तृत है,

फैलाव लेकर है, सजावट और ठाठ में बन्धकर है। बड़े-बड़े सजे कमरों से अलग एकान्त में एक ओर वह कोठरी थी—संक्षिप्त। सामान भी संक्षिप्त। दीवार पर मार्क्स की एक छोटी तस्वीर थी—एक ही तस्वीर थी। एक ओर हलकी पलंग थी, जिस पर कम्बल बिछा था और सफेद चादर रखी थी। पैताने की ओर एक शाल तहाकर रखी थी। नीचे फर्श पर शीतलपाटी, उसी पर दो-एक डाक्टरी की किताब पड़ी थी और शायद एकाध बाहरी किताब थी। आमने-सामने खुली बड़ी खिड़कियाँ थीं, जिनसे आर-पार होकर हवा आ रही थी। बाहर का वैभव देखकर यह कोठरी किसी भी दशा में समझ में नहीं आ रही थी। बाहर की विशाल, विस्तृत शैलबाला क्या भीतर इतनी ही संक्षिप्त है?—इतनी ही एकान्त है? चारों ओर की फैली अपार भोग-विपुलता का अन्त क्या अन्तर की इसी योग-साधना में समाहित है? मैं विमूढ़ बनी शैलबाला की ओर देखती रही।

शैलबाला ने तौलिया से शीतलपाटी को झाड़ा और कहा—"बैठिए, मैं अभी कपड़े बदलकर आयी!"

डॉक्टर बाहर चली गयी। उसकी रेशम की साड़ी में हवा ने सरसराहट पैदा की। बाहर जाकर उसने किंचित ऊँची एँड़ी वाले सैंडल अपने पाँव में डाले और फिर बगल के कमरे में चली गयी। हवा में तैर कर रेशमी साड़ी की सरसराहट एक बार फिर आयी। मेरी आँखें उठकर मार्क्स की तस्वीर पर गयी। मेरे मन ने न जाने किससे पूछा—'हे बाले, तुम कौन हो?—क्या हो?—क्या हो तुम?'

शैलबाला एक सादे वायल की साड़ी में लौटी। उसकी आकृति पर एक अनिर्वचनीय सौम्य था। मरियम की पवित्र मूर्ति की तरह वह लग रही थी। मेरा हाथ पकड़कर शीतलपाटी पर बैठाती हुई बोली—"न जाने कबसे आपको देखने के लिए छटपटा रही थी। सोचती थी, जिसके चरणों में अपार सौभाग्य बिखेरकर रख दिया गया है, वह नारी

कैसी होगी ! लेकिन मैं कुमार जी से कभी कुछ कहने की हिम्मत नहीं कर सकी। आप मेरे यहाँ कई बार आयीं। लेकिन तब कहाँ पता था कि आपके सौभाग्य को ही कुमार जी ने सँवारा है ! तब तो मैं यही समझती थी....” शैलबाला शर्म से लाल होकर चुप रह गयी।

शैलबाला निर्दोष कुमारी की तरह लाल थी। मैं टक बान्धे उसकी ओर देख रही थी। क्या सच मेरे चरणों में सौभाग्य बिखेर दिया गया है ? शायद बिखेर दिया गया हो।....सच तो, मेरा सौभाग्य सच ही बिखर कर नीचे चरणों में आ गिरा है। भाग्य के इस कटु व्यंग्य पर मैं भीतर-ही-भीतर हँसी। पूछा—“तब आप मुझे क्या समझती थीं ?”

शैलबाला और अधिक आरक्त हुई—“क्या कीजिएगा सुनकर ? कोई अच्छा विचार आपके प्रति मेरे मन में नहीं बन्धा था।” फिर एकाएक ही विनम्र होकर वह बोली—“इस राजन में चरित्र-सम्बन्धी बहुत बड़ी दुर्बलता है। लेकिन इसकी संगठन-शक्ति, संघ-क्षमता अद्भुत है। फिर भी क्यों-न-क्यों मैं नहीं चाहती कि इस व्यक्ति को साथ लेकर चला जाय। लेकिन कुमार जी—”

वह फिर चुप हो गयी। जैसे कुमार जी के व्यक्तित्व के विस्तार को अपने ऊपर ओढ़कर वह इसी तरह लघु है, सीमित है और अपनी इच्छा-अनिच्छा के प्रतिकूल कुमार जी की इच्छाओं को ढोने में सुखी है। कि वह बोली—“कुमार जी आज आवेंगे। ग्यारह बजे रात में जो मेल आती है, उसी से।”

मेरे भीतर एक हलकी अनाश्वस्ति उत्पन्न हुई—कुमार क्या सच ही इतना विशाल है ! और तब एकाएक मेरे भीतर दबी दीनता प्रकट हुई। नीरू, अपनी लघुता को पहचान ! अपनी सीमा को पहचान ! चैत के चक्रवात की तरह न जाने कैसा अपरिज्ञेय धुन्ध मन के भीतर उठा और एकाएक ही झकझोरकर सब कुछ उड़ा ले गया

और मैं उस ठूँठ की तरह रह गयी, जिसके पत्ते झड़कर चरणों में आ गिरे हों और फिर वे पत्ते भी आन्धी में उड़ गये हों, जिसे न बसंत का भान हो और न पतझड़ का ज्ञान। बस, ठूँठ खड़ा हो।

शायद शैल ने पूछा—"आप स्टेशन चलिएगा?"

शायद इसलिए कहती हूँ, कि मैंने स्पष्ट कुछ सुना नहीं। कुछ शब्द आकर कानों से टकराये, तो मैंने सिर ऊपर उठाया—"क्या?"

शैल ने तब स्पष्ट किया—"स्टेशन आप भी चलिएगा?"

"चली चलूँगी।" और तब मन में कई क्षणों तक विचारती रही कि मेरा जाना क्या उचित होगा?

आया ने आकर पूछा—"पप्पू सो गया है, आपके पास ले आऊँ?"

शैलबाला बोली—"अभी उसे वहीं रहने दे आया!...राजन बाबू ने खा लिया?"

"खा रहे हैं।" आया आगे आदेश के लिए खड़ी रही।

शैलबाला ने कहा—"जा!"

आया बोली—"महाराज ने पूछा था, आपका खाना—"

शैलबाला ने मेरी ओर देखा—"खाना कहाँ मँगवाया जाय? मैं तो बगल वाले कमरे में खाती हूँ।"

मैं एकदम से बोली—"मेरा खाना? वह तो हो चुका। आपके यहाँ आना था, इसलिए सबेरे सब कुछ निबटा लिया था।"

शैलबाला जरा हँसी—"थोड़ा यहाँ भी निबटा दीजिए।"

"नहीं-नहीं, वह तो नहीं होगा।" मैंने दृढ़ता-पूर्वक अस्वीकार किया।

शैल ने आया से कहा—"हम लोग स्टेशन से लौट आकर खायँगे।"

आया चली गयी।

घड़ी में साढ़े नौ बजा था। मेल ग्यारह बजे आती है। कुमार उसी से आयँगे। मेरा स्टेशन जाना क्या ठीक होगा? या राजापुर लौट चलूँ? माँ जी ने कहा था कि सबेरे लौट आना। लेकिन क्या कुमार राजापुर जायँगे....? नहीं, नीरू, रुक जा! उनके दर्शन करके ही जाना।

मैंने शैलबाला के आगे से एक किताब खींच ली। गायनोक्लॉजी की किताब थी। उसके भीतर के चित्रों को मैं देखती रही।

फिर मैंने पूछा—"यहाँ आप अकेली रहती हैं?"

वह मुस्कुराकर बोली—"अकेली कैसे? सभी तो हैं। पप्पू है, नौकर है, आया है—"

"पति—?"

"पति अमेरिका में हैं—डेढ़ साल से। मानसिक रोगों के निदान में विशेषज्ञता प्राप्त करने गये हैं। छः महीने बाद लौटेंगे—अक्टूबर तक।"

मैंने दबी जबान से पूछा—"यह अकेलापन खटकता नहीं है?"

वह खिल आयी—"अकेली होऊँ, तब तो खटके? और मैं हूँ कि अकेली रह नहीं सकती। एक बहुत बड़ी जमात अपने साथ लेकर चलती हूँ।"

इस पर मैं चुप हो आयी।

शैलबाला ने पूछा—"सुना था आप एम. ए. की परीक्षा दे रही हैं।"

"दे दी। सेकेंड क्लास मिला है।"

"आगे क्या सोचा है?"

"सारी दुनिया के विषय में सोचने वाला जिसका पति हो, उसके लिए सोचने को क्या रखा है?"

शैलबाला ने एक बार गहरी नजरों से मेरी ओर देखकर अपने को किताब में अँटका दिया। यों आँखें मेरी भी किताब में ही अँटकी

थी, लेकिन मन वहाँ अँटका नहीं था। आँखें बीच-बीच में घड़ी की ओर उठ जातीं, कि छोटा काँटा ग्यारह से और कितनी दूर रह गया है।

पौने ग्यारह बजे शैलबाला मुझे और राजन को लेकर स्टेशन चली। मेल आया, लेकिन कुमार नहीं आये। एक गुजराती युवक मेल से उतरा। उसने राजन को पहचानकर नमस्ते किया। बाद में शैलबाला से उसका परिचय कराया गया। शैलबाला को उस युवक ने कुमार की लिखी एक चिट्ठी दी।

गाड़ी में आकर राजन स्टीयरिंग के सामने बैठा। उसकी बगल में वह गुजराती युवक। शैल और मैं पीछे बैठी। गाड़ी में बैठकर शैल ने पत्र खोला। पत्र अति संक्षिप्त था। सात-आठ सतरों में समाप्त हो गया था। पत्र पढ़कर वह कुछ देर यों ही बैठी रही। जैसे अनिश्चय में हो। फिर पूछा—"तुम राजन, क्या समझते हो?"

राजन गाड़ी को स्टार्ट देने जा रहा था। उसने सिर पीछे घुमाकर देखा—"क्या?"

शैलबाला बोली—"बीच में रुकना कुछ ठीक नहीं जँचता।"

राजन उसी तरह शैलबाला की आँखों में देखता रहा।

शैल—"तुमलोग नहीं रुको।"

जैसे यह आदेश था। गाड़ी स्टार्ट हुई। कई छोटी-बड़ी सड़कों को छोड़कर हम हवाई अड्डे की ओर चले। राह में एकाएक गाड़ी रुकी। लम्बे-चौड़े प्लाट में बने चमड़ा तैयार करने का कारखाना था। उसका विस्तार हो रहा था। मजदूरों के लिए टिन के शेड बने थे। राजन और वह गुजराती युवक नीचे उतर गया। शैलबाला स्टीयरिंग के पास बैठती हुई बोली—"मेरे रुकने की जरूरत नहीं है।" और उसने गाड़ी को स्टार्ट दिया।

: १३ :

जिस समय मैं राजापुर पहुँची, रात का एक बज चुका था। दरवाजा माँ जी ने खोला। दरवाजा खोलकर वह खड़ी-खड़ी मुझे देखती रहीं। न जाने उस दृष्टि में कैसी अपरिज्ञेयता थी! मुझे लगा कि उन आँखों में जो एक स्नेहिल विश्वास की झलक सदा रहती थी, वह उनमें नहीं है। एक क्षण में ही वह दृष्टि मेरे बहुत भीतर उतर गयी। अति वेग से छुटे तीर के फलक के कलेजे में उतरने में पल-भर की भी तो देर नहीं होती है न, वैसी ही वह दृष्टि थी।

मेरे भीतर झन्न से कुछ बजा, जैसे तीर भीतर धँसकर हड्डी से टकरा गया हो। मैं चुपचाप दरवाजे के भीतर हो गयी। अपने कमरे की ओर जाते हुए मैंने अनुमान किया कि माँ जी उसी तरह दरवाजे पर खड़ी हैं और उनकी वह दृष्टि मेरी पीठ के पार होती जा रही है। अपने कमरे में आकर मैंने सुना कि माँ जी ने दरवाजा बन्द कर लिया है।

माँ जी मेरे कमरे में आयीं। उनकी दृष्टि अभी भी वैसी ही थी। आकर उन्होंने कहा—"तेरा भाई आया था बहू! कह रहा था, तुम घर नहीं गयी। और तुम्हारे पिताजी तो तुम्हारे आने के समय से लेकर आज तक कभी अस्वस्थ नहीं हुए!"

घर तो नहीं ही गयी थी। न जाने माँ जी क्या सोच रही हों। कि उन्होंने पूछा—"डॉक्टर के यहाँ गयी थी?"

मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया कि हाँ।

"डॉक्टर के यहाँ राजन रहता है?"

न जाने माँ जी क्या जानना चाहती हैं। लेकिन तब मुझमें न आत्मबल रह गया न नैतिक दृढ़ता रह गयी। लगा कि अब इन पैरों पर खड़ी न रह सकूँगी। दीवार का सहारा ले लिया।

माँ जी ने पूछा—"राजन से मिलने गयी थी?"

छुरे के नीचे पड़ी गाय की नजरों में जो बेबसी होती है, उसी नजर से मैंने माँ जी की ओर देखा। अपने भीतर चीखकर मैंने अस्वीकार किया—'नहीं।' लेकिन बाहर उसी तरह बुत बनी खड़ी रही। शब्द भीतर गूँजते रहे। लेकिन स्वर बाहर नहीं आया।

माँ जी ने कुछ रुद्ध कण्ठ से पूछा—"कुमार से तेरा कैसा सम्बन्ध है बहू?"

हाय! कैसा अघट होने को है प्रभो! मेरी विवर्ण दृष्टि माँ जी के चरणों में आ गिरी। मैं चिल्लाकर कहना चाहती थी कि राजन मेरा कोई नहीं है—अब उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा कौमार्य जूठा है, हां; लेकिन मेरा पत्नीत्व पवित्र है। लेकिन मैं क्या यह सब कुछ कह सकी? नहीं! वैसी ही प्रतिहत, निस्तेज दीवार से लगी खड़ी रही। फिर देखा कि माँ जी के वे चरण हिले, मुड़े, और वह धीरे-धीरे वहाँ से चली गयीं!

तब मैं चेतना-आहत—सुन्न पलंग पर आ गिरी। जाने कब नींद ने मुझे अपनी बाँहों में समेटे लिया।....

सवेरे उठी, तो देखा, माँ जी रसोई में लगी हैं। मुझे देखकर उन्होंने रसोई-घर का दरवाजा बन्द कर लिया। मैंने इस घर में आते

ही रसोई-घर की जिम्मेदारी अपने हाथों में लेकर माँ जी को एकदम से छुट्टी दे दी थी। आज के रुख से मेरा माथा ठनका। मैंने दरवाजे पर आकर दस्तक दी। भीतर से कोई जवाब नहीं आया। पुकारा—"माँ जी!"

भीतर से बर्तनों के इधर-उधर हटाने की आवाज आयी! माँ जी कुछ बोलीं नहीं। जैसे भीतर वह अंतर्लीन हैं। बाहर की कोई आवाज भीतर नहीं पहुँचती।

माँ जी आचारनिष्ठ हैं। लेकिन आज जो एकाएक ही उन्होंने रसोई-घर का भार अपने ऊपर उठा लिया है और मेरे लिए प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया है, वह किस ओर संकेत करता है? तब क्या आज से मैं इस घर में अस्पृश्य मानकर एक ओर कर दी गयी हूँ?

रसोई-घर के दरवाजे से मैं अपने को किसी प्रकार खींचकर सोने के कमरे में ले आयी। पेड़ से टूटकर—छिन्न, निराधार, निःशक्त, दिशाहीन, गतिहीन—डाल की तरह मैं पलंग पर आ पड़ी। मन में हाहाकार न जाने कैसा धुंडीदार (?) पदार्थ-सा बनकर ऊपर आता। मैं जानना चाहती कि वह क्या है? लेकिन मन की अचेतनता में प्रश्न रहता—क्या?—क्या??—क्या???—????

मेरी आँखों के सामने कई बार मेरा खण्डित कौमार्य साकार हुआ। नारी सब दिन कुमारी ही तो नहीं रहती है! उसका कौमार्य इसीलिए है कि किसी पुरुष के आलिंगन में खण्डित होकर—विचूर्ण होकर उसी में लीन हो जाय। अक्षय कौमार्य को समाज ने भी वरेण्य नहीं माना है। उसने विवाह का विधान किया है कि नारी का कौमार्य एक पुरुष की वासना के साथ बन्धे, खण्डित हो, क्षत हो—अक्षय नहीं रहे। समाज के सभी पुरुष और नारी को इसी बन्धन में बन्धकर चलना पड़ता है। मैं भी बाँधी गयी हूँ कि मेरे नारीत्व का उपभोग कुमार करें। लेकिन कुमार बन्धे नहीं हैं, वह निर्बन्ध हैं।

लेकिन मेरे बन्धन की गाँठ का दर्द लेकर वह छटपटा रहे हैं। इस घर में अब सभी जान गये हैं कि मेरा कौमार्य जूठा है। एक बार जूठा होकर क्या सभी पदार्थ इसी तरह त्याज्य बन जाते हैं? नहीं, जिसका जूठन गुप्त रहता है, अज्ञेय रह जाता है, उसे पवित्र मानकर लोग ग्रहण कर लेते हैं। कुछ जूठे पदार्थ को त्याज्य मानकर अलग कर दिया जाता है, उससे भुक्खड़ों की भूख मिटती है। लेकिन यह कुमार जीवन-भर भूखा रहेगा, जूठा नहीं खायगा—ऐसे ही संस्कार में वह पला है।

और नारी का चरित्र भी क्या कच्चे दूध-जैसा ही है कि उसके एक बार बिगड़ जाने पर उससे नवनीत नहीं निकल सकता? जीवन में चरित्र का महत्व है, यह सही है। इससे समाज में शृंखला आती है, नियमन आता है, इसमें स्वास्थ्य है, अभिवृद्धि है। लेकिन पुरुष का चरित्र बिगड़ता है, तो बनता भी है। पर नारी का चरित्र? उसका क्या पति के बिना कहीं निस्तार नहीं है?

माँ जी खाना निकालकर मेरे ही कमरे में थाली रख गयीं थाली की ओर टक लगाये मैं बहुत देर तक देखती रही। एक बार। तो जी में आया कि थाली उठाकर झन्न से बाहर आँगन में फेंक दूँ। कमरे में लगे सभी शीशे तोड़ दूँ। किताबों और कपड़ों को नोचकर फेंक दूँ और अपने को इसी कमरे में बन्द कर सारी चीजों में आग लगा दूँ। लेकिन यह सब मन ने सोचा, हाथों ने किया नहीं।

आज मैं पत्नी होकर भी पत्नी नहीं थी। परिवार की होकर भी परिवार की नहीं थी। इस स्थिति में क्या करूँ, कुछ सोच नहीं पा रही थी। भूख नहीं थी। लगता था कि कलेजे तक भरा है और सामने रखी थाली का अन्न जहर बन गया है। कि उसे मैं मरने के लिए भी नहीं खा सकती।

मन दौड़-घूमकर थक गया था, इसलिए शरीर भी शिथिल पड़ गया। मैं उसी प्रकार पलंग पर लेटी-लेटी सो गयी।

साँझ में आकर माँ जी ने उठाया—"बहू! तुमने खाया नहीं?"

मैं कुछ भी बोलने की स्थिति में नहीं थी। अन्तर में न जाने कैसा दुख फूट पड़ने को उमरा आ रहा था। मैंने आँचल से मुँह ढँक लिया और छाती के बल लेट गयी। माँ जी बहुत देर तक कमरे में ही चुप बनी खड़ी रहीं। फिर मैंने पद-चाप से जाना कि वह धीरे-धीरे कमरे से बाहर चली गयी हैं।

रात में न किसी ने खाना बनाया और न खाया ही। सबेरे उठकर मैंने रसोई बनायी। लेकिन जब खाने का समय हुआ, तो मालूम हुआ कि माँ जी पड़ोस में कहीं गयी हैं। वहाँ से एक बच्चे के द्वारा खबर भिजवा दी कि उन्होंने पड़ोस में ही खा लिया है। बहू खा ले, किसी का इन्तजार न करे।

उस दिन का बना-बनाया खाना भी ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया। किसी ने उसे छूआ भी नहीं।....

पति रात में घर आये। मैं जगी थी। कमरे में हलकी रोशनी जल रही थी। माँ जी पड़ोस से लौट आयी थीं। पति सीधे कमरे में पहुँचे। मुझमें न जाने उन्होंने कैसा देखा कि अकचकाकर पूछा—"तबियत तो तुम्हारी ठीक है न नीरू?"

"ठीक है।" मैंने धीरे से कहा।

उन्हें विश्वास नहीं हुआ—"ठीक है, तो यह अपनी सूरत तुमने कैसी बना रखी है?"

मैंने हँसने की चेष्टा की—"क्या हुआ है मेरी सूरत को?"

न जाने मेरी हँसी ने क्या प्रकट किया कि वह अपलक मुझमें देखते रहे। तब बोले—"सच बात क्या है नीरू ?"

मेरा दर्द क्या छिपा रह सका ? नहीं ! अन्तर को फोड़कर कण्ठ तक आया। मैंने ओठों पर दाँत दबाये कि यह कण्ठ के बाहर रुदन बनकर प्रकट न हो। लेकिन इस दर्द के प्रकट होने की क्या एक ही राह होती है ? आँखों में आँसू बने और टप-टप कर चू पड़े। और चूकर जमीन पर गिरे उन आँसुओं को मैं चुपचाप देखती रही।

पति ने ठुड्डी के सहारे मेरा मुँह ऊपर किया और मुझे नजर-भर देखा। फिर उनकी आँखें नम हो आयीं। जैसे सन्निपात-ग्रस्त रोगी बोलता है, वैसे ही स्वर में उन्होंने पूछा—"क्या है नीरू ?"

मैं उनसे अपने को अलगकर पलंग के सहारे खड़ी हो गयी। बोली—"शैलबाला कहती थी—आप देवता हैं !"

"लेकिन तुम तो सब कुछ जानती हो नीरू !" पति ने बीच में ही कहा—"मैं देवता नहीं हूँ। आदमी भी नहीं हूँ। पशु भी नहीं हूँ। क्या हूँ, यह अब तक समझ नहीं पा सका हूँ। कभी-कभी लगता है कि मैं सबसे अधम हूँ—"

मैंने उनके मुँह पर हाथ रख दिया—"पहले मेरी सारी बातें सुन लीजिए। मैं जिधर जाती हूँ, देखती हूँ, आप सबके ऊपर होकर फैले हैं। उस विशालता में, उस निस्सीमा में मैं अपने को कहीं नहीं पाती ! आपका जीवन घेर सकूँ, ऐसी क्षमता मुझ में नहीं है। आपके चरणों में पड़ी रह सकूँ, ऐसा पुण्य भी मैं अर्जित नहीं कर सकी हूँ। जो कुछ बटोर कर रखा है, वह पाप-ही-पाप है। उससे किसी का निस्तार नहीं होगा। मैं त्याज्य मानी गयी हूँ, त्याज्य ही रहने दीजिए।"

पति आकुल दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे। उनके भीतर से लहर मारकर न जाने क्या बाहर आना चाहता था। लेकिन वह चुप थे।

कुछ कहने के अभिप्राय से ओठ काँप रहे थे। पर शब्द नहीं बन पा रहा था। और वह उसी प्रकार मेरी ओर ताक रहे थे।

उस परिस्थिति से उबरने के लिए मुझे कुछ न मिला, तो मैंने पूछा—"खाना तो नहीं खाया होगा?"

वह उसी तरह खड़े देखते रहे। फिर कुर्सी का सहारा लिया। एक निःश्वास छोड़ा, दूसरा छोड़ा और कुर्सी में ही बैठ गये।

मैं बोली—"खाना बना दूँ?....यहाँ खाना नहीं बना है। मेरे हाथ का कोई नहीं खाता!" और अभी-अभी जो आँसू थमा था, वह फिर धक्का खाकर अबाध फूट आया।

उन्हें विस्मय हुआ—"तुम्हारे हाथ का कोई नहीं खाता!—क्यों?"

मैं जवाब क्या देती? भीतर ऐंठकर कुछ बाहर आना चाहता था। वह उद्वेग किसी भी प्रकार रुक नहीं पा रहा था। मैं कमरे से भागकर बाहर चली आयी। साँझ में ही आंगन में कम्बल बिछाया था। अब तक वह जहाँ-का-तहाँ पड़ा था। उसी कम्बल पर आकर बैठ गयी। फिर बाँहों में मुँह छिपाकर छाती के बल लेट गयी।

न जाने पति भीतर बहुत देर तक क्या करते रहे।

माँ जी ने आकर पूछा—"तेरा खाना हो गया है कुमार?"

पति ने कुछ रुक्ष कण्ठ से कहा—"नहीं।"

"खाना बनेगा क्या?"

"नहीं।"

फिर दोनों चुप हो गये। कुछ क्षण के बाद पति ने पूछा—"यह सब क्या है माँ!"

"क्या?"

"सुना है, निरुपमा के हाथ का कोई नहीं खाता—"

माँ जी ने कुछ जवाब दिया या नहीं, यह सुनाई नहीं पड़ा। लेकिन कुछ ही क्षण बाद पति का तेज स्वर सुनाई पड़ा—"यह सब तुमसे किसने कहा ?"

माँ जी ने कुछ कहा। लेकिन क्या कहा, मैं सुन नहीं सकी। पति बोले—"निरुपमा का चरित्र कैसा है, इसकी आलोचना तुम दूसरों से सुनती हो माँ ? निरुपमा को कोई क्या मुझसे ज्यादा जानता है ? सब कुछ जान-समझकर मैंने उसे इस कुल की बहू के रूप में ग्रहण किया था। उसका अपमान क्या इस कुल का अपमान नहीं है ? तुम सब क्या चाहती हो कि वह इस घर में नहीं रहे ?"

माँ शायद कुछ नहीं बोलीं।

और जब वह कमरे के बाहर निकलीं, तो आँगन में आकर खड़ी हो गयीं। खड़ी-खड़ी न जाने क्या सोचती रहीं। तब धीरे से उन्होंने पुकारा—"बहू !"

मैं ऐसी बनी पड़ी रही कि सो रही हूँ। माँ जी बोलीं—"आँगन में ही सोयगी क्या बहू ? खुले आसमान के नीचे तो ओस गिरता है।" अरे ! माँ जी का स्वर यह कैसा भींगा-भींगा हो रहा है !

माँ जी तब चली गयीं और मैं वहाँ उसी प्रकार पड़ी रही। न जाने कब आँखें लग गयीं।

अचानक ऐसा आभास हुआ कि कोई आया है। मेरी नींद उचट गयी। किसी के हाथ ने धीरे से मेरे सिर को स्पर्श किया। मेरे बाल खुले थे—अनावृत्त थे। उस हाथ की उँगलियाँ मेरे बालों में उलझीं और उलझकर रह गयीं। उँगलियों में गति थी, जो अनिदृश्य सम्मोहन-सी लग रही थी। फिर एक स्थिर कण्ठ ने पुकारा—"नीरू !"

पति थे। न जाने कय बज रहा था और वह अब तक जगे थे। क्या है, जो उनको अब तक जगाये है ? मैं ? मैं तो पत्नी हूँ। पत्नी

बनाकर इन्होंने घर में रखा है। लेकिन यह पुरुष ऐसा नहीं बना है कि पत्नी में, घर में बन्धकर रहे। इसे घर से बाहर का कुछ चाहिए, जिसमें यह उलझा रहे। इसे राष्ट्र चाहिए, जनता चाहिए, नीति चाहिए, राजनीति चाहिए। उसी में होकर ही यह है। शायद उसी में होने के लिए यह है। यह एक में उलझकर नहीं रहेगा। लेकिन अब तक जो कुछ इनको जगाये है, वह बाहर का कुछ नहीं है, भीतर का ही है, जो मन को चैन नहीं लेने दे रहा है।

उन्होंने दोनों हाथों के बीच मेरा सिर थामकर अपनी ओर कर लिया और उसी प्रकार बन्धे स्वर में पुकारा—"नीरू!"

मैंने आँखें खोलकर उन्हें देखा।

वह बोले—"बाहर आँगन में तो ओस गिरता है।" और उन्होंने मुझे सहारा देकर उठाया। मैं उनके हाथों लगी उठ आयी। कमरे में लाकर उन्होंने पलंग पर लिटा दिया। मैं तब आत्मा न थी, देह थी। चेतन थी, लेकिन जड़ता में ही अधिक समाहित थी।

पति को देखा, तो लगा कि उनके भीतर अपरिज्ञेय चांचल्य स्तूपाकार होकर बन्धा है; और बन्धकर, विवश होकर प्रकम्पित हो रहा है। उनकी उस आकृति पर मेरी आँखें अधिक टिकी नहीं रहीं—नीचे उतर आयीं। उन्होंने एक खादी की गंजी पहिन रखी थी। शरीर में स्वास्थ्य भरा था। सुगठित बाँहें थीं। कलाई पर घड़ी थी।

मैंने देखा, घड़ी में एक से ज्यादा बज रहा है।

वह बोले—"नीरू, ऐसे एकान्त में जब हम रहते हैं—मैं और तुम, तो बहुत-सी बातें मन को घेर आती हैं। भीतर एक-पर-एक बात आकर ढेर-सी बन जाती है। लेकिन वे बातें ऐसी होती हैं कि मुझे खोलती नहीं, बान्धती ही हैं। मैंने पाया है कि वे सब असहज हैं, अचिन्त्य हैं। लेकिन अचिन्त्य हैं, इसीसे चिन्त्य भी हैं, कि उन्हें अचिन्त्य क्यों होना चाहिए? जब कि उन्हीं बातों को लेकर जीवन

असहज हो रहा है। मेरा और तेरा सम्बन्ध तो पति-पत्नी का है न ? लेकिन वह नहीं है—साफ है कि नहीं है। यह सहज नहीं है। सहज क्यों नहीं है, यही चिन्त्य है। लेकिन बातों को तूल देना क्या हर समय अच्छा होता है ? तुम पढ़ी-लिखी कोई कम नहीं हो। तुम्हारे पढ़े-लिखेपन का मुझे गर्व है। तुम मानव-स्वभाव को जानती हो। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध क्या होता है, यह भी जानती हो। तुम्हें आश्चर्य होता होगा कि मैं उन सम्बन्धों में होकर क्यों नहीं हूँ। लेकिन मुझे देखो, मैं अपना ही ओर-अन्त नहीं पा रहा हूँ—कि नहीं मिल रहा है। इसलिए बाहर का भी सब कुछ अप्राप्य है—देश, समाज, परिवार, पत्नी; सब उलझा हुआ है। इनके बीच से कोई भी ऋजु पथ मैं निकाल नहीं सका हूँ।....नदी तुमने देखी है, वह स्वयं आगे बढ़ती जाती है और किनारे की चीजें पीछे छूटती जाती हैं। वैसे ही सब कुछ छोड़ता चलकर मैं भी चलता आ रहा हूँ। लेकिन इधर देखा है, तुम नहीं चल सकी। यह मेरे मन पर बोझ बनकर रहता है और मुझे भी नहीं चलने देता है। रोकता है। और रुककर मैं देखता हूँ, नदी का पानी मर रहा है।"

मैं चुपचाप पति की बातें सुनती रही। आज जितना वह मेरे पास कभी नहीं बोले थे। इन पाँच वर्षों से जो भीतर कुंडली मारकर बैठा था! उसमें आज पहली बार प्रकम्प हुआ था। वह क्षण-भर रुककर कहने लगे—"तुम माँ की बातों का दुख मानती हो। खाना छोड़कर बैठी हो। मैं यह नहीं कहता कि यह अस्वाभाविक है। स्वाभाविक है। लेकिन स्वाभाविक रहकर परिस्थियाँ नहीं झेली जातीं। परिस्थितियाँ स्वयं अस्वाभाविक होती हैं। वे स्वाभाविक को, सहज को काटती हैं। न कटने के लिए व्यक्ति को भी अस्वाभाविक होना पड़ेगा, तभी वह बचेगा।"

मेरे भीतर लहर-जैसी उठी और मस्तिस्क तक व्याप गयी। अव-रुद्ध कण्ठ से अनुनीत होकर कहा—"मुझे बचना नहीं है। कटने दीजिए! आपके पैरों पड़ती हूँ, कटने दीजिए!"

कहीं एक सूत टूट गया और कपड़े की हड़हड़ चलती मशीन बन्द हो गयी, वैसा ही सन्नाटा छा गया। पति ने अकचका कर मेरी ओर देखा। निगाहें न जाने क्या ढूँढ़ती मुझपर थमी रहीं। तब आर्द्र कण्ठ से बोले—"कटना भी स्वाभाविक नहीं है नीरू!"

मैंने कहा—"स्वाभाविक? यहाँ स्वाभाविक है ही क्या? मैं हूँ? आप हैं?—नहीं, नहीं, नहीं।"

उनकी आँखें मेरी आँखों से मिलीं और दृष्टि फिर लौट गयी। न जाने क्या देखने के लिए वह बाहर देखते रहे। लेकिन बाहर से ज्यादा वह अपने ही भीतर देख रहे थे। इसी तरह बहुत समय निकल गया। मैंने टोका—"आप रात-भर इसी तरह जगे रहेंगे?"

उन्होंने लौटकर मुझे देखा। बोले कुछ नहीं।

मैं—"सो जाइए!"

वह आराम कुर्सी में ही थोड़ा ढीला पड़कर लेट गये और पाँवों को सामने पलंगपर फैला दिये। तब पूछा—"तुम्हारे उपवास के कय दिन हुए नीरू?"

मैं चुप रही।

"इसी तरह उपवास करना ही तय कर लिया है?"

मैं क्या कहती, कि हाँ? कि नहीं?

"—या मेरे पापों का प्रायश्चित कर रही हो?"

'प्रायश्चित' शब्द मेरे कानों में आकर झन्न से बजा। पाप! प्रायश्चित! मेरे भीतर कुछ उत्थित हुआ, और अन्तस की उसी प्रेरणा में मैं उठ बैठी। पलंग पर फैले उनके पैरों को पकड़कर मैं बोली—"प्रायश्चित मैं करूँगी। क्या प्रायश्चित करना होगा?" और साग्रह उनकी ओर देखती रही।

उन्होंने पूछा—"किसके पापों का प्रायश्चित ?"

"अपने पापों का—"

"किस पाप का ?"

"मेरा पाप-पुण्य सब आप जानते हैं।"

वह क्षण-भर अपने में थमे।

मैं बोली—"मैं पतित हूँ। आपके किसी योग्य नहीं हूँ। बोलिए, क्या प्रायश्चित करना होगा ? इस घर में, इन परिस्थियों में रहना अब मेरे लिए कठिन हो रहा है।"

वह थमे ही रहे।

तब मैं अतिशय करुण होकर बोली—"एक बात पूछूँ !....एक दिन प्रातःकाल उठकर आपको यह पता चले कि निरुपमा घर में नहीं है, तब क्या आपको दुख होगा ? कल से ही यह भाव मेरे मन को बेचैन कर रहा है। लेकिन सोचती हूँ, मैं स्वयं अकेले की तो नहीं हूँ। जिसके पतित्व की सीमा में बन्धी हूँ, उसकी मर्यादा की सीमा बहुत विस्तृत है। किसी की कुल-बधू हूँ, किसी की बेटी हूँ। मर्यादा की इन्हीं भावनाओं ने मुझे दायरे में रख छोड़ा है। कोई आजाद कदम भी नहीं उठा सकती। इसलिए पूछती हूँ कि अगर आपको यह पता चले कि निरुपमा घर में नहीं है, तो नाराज तो न होंगे ?"

वह बोले—"क्या होऊँगा, यह मैं अभी नहीं जानता, लेकिन मैं यह नहीं चाहता नीरू, कि एक दिन प्रातःकाल उठकर सुनूँ—निरुपमा घर में नहीं है।"

इसके बाद उन्होंने धीरे से अपने पाँवों को मेरे हाथों से छुड़ाया। उठे। अपने छोटे बैग से उन्होंने कई चिट्ठियाँ निकालीं। मेरी ओर बढ़ाते हुए बोले—"तुम्हारी चिट्ठियाँ हैं। मेरे कैयर में आयी थीं।"

मुझमें चिट्ठियों के लेने का कोई उत्साह नहीं था, आग्रह नहीं था। वे जहाँ रखी गयी थीं, वहीं पड़ी रहीं। तब वह बोले—"इंटरव्यू के लिए है शायद। नौकरी के लिए लिखा था ?"

मैंने लिखा था। कहा कि 'लिखा था।'

वह इस भाव से चुप हो रहे कि अब सो जाना ठीक होगा। लेकिन कोई नहीं सो सका। वैसे ही बैठे जब रात बीत गयी, तो सिर उठाकर देखा, खिड़की के बाहर सवेरा फूट आया था।....

स्नानकर लौटी, तो देखा, वह चिठियाँ लिखने में व्यस्त हैं। मुझे कमरे में पाकर बोले—"कुछ जरूरी चिठियाँ थीं—"

मेरा मन हलका था। उसी हलकेपन में हँसकर मैं बोली—"जरूरत से बाहर की चीजों में आप हाथ भी तो नहीं लगाते!" तब पूछा—"क्या बनाऊँ?"

"कुछ भी बनाओ!"

"रोटियाँ सेंक लेती हूँ और रसदार सब्जी।"

"कुछ भी—"

और जब मैं जाने लगी, तो उन्होंने टोका—"सुनो, बैग में दो सौ रुपये होंगे। निकाल लो। बम्बई में मिले हैं, रॉयल्टी के हैं।"

"अच्छा-अच्छा!" और मैं बाहर निकल आयी।....

रोटी खाते-खाते पति बोले—"इस राजनीति और आन्दोलन ने मुझे बहुत भटकाया है। चाहता हूँ कि यह अब कुछ दिनों के लिए मुझे छुट्टी दे दे। कहीं घूमने के लिए चलूँ। घूमने की बहुत जगहें हैं—पहाड़ों पर सुन्दर जगहें हैं, समुद्र किनारे रमणीय स्थल हैं। वहीं जाकर कुछ लिखूँ। इधर लिखना भी छूट गया है।"

मैंने सोचा, राजनीति और आन्दोलन से छूटकर क्या इनका व्यक्तित्व ह्रस्व नहीं होगा ? राजनीति में हैं, इसी से तो फैले हैं। और भटकना भी तो आदमी को मार्ग-विस्तृति में मिलता है। लेकिन उनके इस विचार ने मेरे मन में एक सुख ही उत्पन्न किया।

उन्होंने पूछा—"तुमने क्या नौकरी करना निश्चय कर लिया है ?"

"यहाँ बैठी बेकार ही तो रहती हूँ।"

"हाँ, वेकार नहीं रहना चाहिए। श्रम का महत्व है। वह आदमी को व्यस्त रखता है और रिटर्न भी देता है। यूटिलिटी....वह तो होना ही चाहिए।....श्रम का रिटर्न तुम पैसे में चाहती हो ? लेकिन कुछ श्रम ऐसे भी हैं जो पैसा नहीं बनाते, लेकिन उनकी यूटिलिटी है। नारियाँ घर में वही करती हैं। खैर, ये बातें तुम पढ़ चुकी हो।" वह अपने भीतर कुछ कठिन लगे। पूछा—"इंटरव्यू के लिए कब जाना है ?"

मैंने कहा—"आप मेरी नौकरी की बात से नाराज हैं ?"

"नाराज ?" उन्होंने जैसे अपने से ही पूछा कि क्या वह सच ही नाराज नहीं हैं ?

मैं—"आप आज्ञा देंगे, तभी तो मैं जा सकूँगी।"

वह—"आज्ञा के लिए विनीत हो, तो इसका अर्थ है कि तुम मुझे स्वामीत्व देती हो और अपने को दासी मानती हो। अपने चारों ओर किसी के स्वामीत्व का दायरा खींचने से आदमी ह्रस्व होता है, उसमें हीनता का भाव बढ़ता है। तुम क्या इस घर की स्वामिनी नहीं हो ?" और फिर न जाने कैसे परिहास के भाव से वह हँस पड़े—"सड़कों पर जाकर मैं अगर कहूँ, कि देखो, यह निरुपमा मेरी दासी है, तो मुझपर लोग हँसेंगे। समझेंगे पागल है। तुम्हारी-जैसी दासी रखने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है भाई ! अलबत्ता स्वामिनी मानने में ही मेरी कुशल है।"

पति को खिलाकर मैंने माँ जी से जाकर कहा—"खाना लगा दिया है।"

माँ जी ने सिर झुकाये ही कहा—"तू खा ले बहू! मेरा दोनों प्राणियों का निमन्त्रण है। रामसकल के यहाँ से बुलावा आया है। पूजा है उसके यहाँ।"

मैं चुपचाप वापस लौट आयी। चौके में सारी चीज़ों को ढाँककर रख दिया। रसोई घर से बाहर हुई, तो देखा पति खड़े हैं। उन्होंने पूछा—"माँ ने क्या कहा?"

"उनका निमन्त्रण है।" मैं अपने भीतर बहुत कठिन थी।

मैंने पति की ओर देखा। दीखा कि उनमें भी काठिन्य उभरा आ रहा है। उन्होंने वहीं से खड़े-खड़े पुकारा—"माँ!" स्वर में अतिशय तनाव था।

आध मिनट बाद माँ जी आँगन में आयीं। पति ने पूछा—"तेरा निमन्त्रण है माँ? कहाँ का निमन्त्रण है?"

माँ जी सिर झुकाये चुप उसी प्रकार खड़ी रहीं।

तब पति ने स्थिर कण्ठ से कहा। वह कण्ठ स्थिर ही था—अति गम्भीर समुद्र-जैसा स्थिर—"मैं तुम पर किसी बात के लिए जोर नहीं डाल सकता माँ! अपने मन के लिए सभी स्वतन्त्र हैं। लेकिन जिस निरुपमा को तुमने अस्पृश्य घोषित कर दिया है, उसके हाथ का मैंने आज भी खाया है। मेरे लिए तेरा क्या विधान है?"

माँ जी बिना एक शब्द बोले चली गयीं।

पति एकदम से चीख उठे—"माँ!"

माँ जी उस अस्वाभाविक स्वर से अपने में चौंकीं। लेकिन रुकी नहीं। बाहर चलती चली गयीं।

पति तब बोले—"नहीं, नहीं! इस घर में तू कैसे रहेगी निरुपमा! ऐसे में जिआ नहीं जायगा!"

और वह न जाने कैसे निश्चय में आकर कमरे की ओर मुड़े। कमरे में आकर उन्होंने पूछा—"तू चलेगी निरुपमा ?"

मैंने निकट आकर पूछा—"कहाँ जाइएगा ?"

"कहीं भी !"

उन्होंने अपना छोटा-सा सामान तैयार किया और एकदम से तैयार होकर बोले—"तू नहीं जायगी न ?"

मैंने करुण पड़कर कहा—"घर से झगड़कर जाना तो ठीक नहीं है।"

"क्या ठीक है, यह सोचने का समय मेरे पास नहीं है। तू चलेगी ?"

"आज्ञा टालूँगी नहीं—"

वह क्रुद्ध हो उठे—"मैंने कह दिया, आज्ञा की बात नहीं है। जी चाहे, तो चलो। मैं यहाँ ऐसे में नहीं रह सकता।"

उन्होंने हाथ में सामान उठाया और दरवाजे की ओर बढ़े। मैं दरवाजा घेरकर खड़ी हो गयी—"इस तरह घर से टूटकर जाने का क्या अर्थ होता है ?"

उन्होंने सिर्फ मेरी ओर देखा। देखा-भर ही। मैं उनकी दृष्टि देखकर अपने भीतर कटी। उन्होंने कहा—"तू नहीं जायगी, तो रास्ता छोड़ दे !"

मैंने अनुनय किया—"इस तरह मैं कैसे जा सकती हूँ ?"

तब वह मुझे हलका धक्का देकर आगे बढ़ गये। दरवाजे के बाहर जाते-जाते लौटे। बैग से रुपये निकालकर उन्होंने मेरी ओर फेंक दिया। दस-दस के नोट थे। वे बीसों नोट मेरे चारों ओर फैल गये। वह चले गये। मैं कुछ क्षणों तक सामने देखती रही। फिर वहीं दरवाजे के सहारे बैठ गयी। मेरे अगल-बगल, इधर-उधर नोट बिखरे थे—दस के थे, सभी दस के।

यह सब क्या हो गया ? सागर जहाँ बहुत गहरा होता है, वहाँ सुनती हूँ, लहरें नहीं होतीं। वहाँ अखिल प्रशान्तता ही होती है। लेकिन उस प्रशान्तता को मिटाकर जो यह पानी का तल विक्षुब्ध हो उठा है, *वह क्या है ?* ऐसा तो तूफान में ही होता है। तूफान कोई अच्छी चीज नहीं होता। उसमें कुछ टूटता है, विनष्ट होता है। क्या होगा प्रभो ! इस परिवार में क्या मैं ही शनि हूँ ? नहीं तो माँ तो कभी इतनी अक्षमाशील नहीं होती ? पुत्र इतना असहिष्णु नहीं होता ! लेकिन प्रशान्तता में जड़ता है और उद्वेल में, तूफान में जीवन है, तोड़ने की शक्ति है। पति के उस प्रकार चले जाने से मेरा अन्तर रिक्त नहीं हुआ, भरा ही।

माँ जब अन्दर आयीं, तो मैंने नोटों को समेटकर उनकी ओर बढ़ाया—"जाते समय वह दे गये हैं।"

माँ जी ने मेरे फैले हाथ की ओर देखा। निगाहें नोट पर क्षण-भर टिकीं—"दे तो गया है, लेकिन गया कहाँ है ?"

"*कहा नहीं*—"

"कहा नहीं !" माँ खीझ उठीं—"ठीक है, जो नहीं कहा है। गया, तो घर में आग लगाता क्यों नहीं गया ? सब जल जाता, तो लौट आने का मोह तो नहीं रहता ? वह क्या समझता है कि—" माँ जी का क्रोध भीतर-ही-भीतर द्रवित हुआ और कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

वह एकदम से मुड़कर बाहर की ओर चलीं। दरवाजे के बाहर जाते-जाते वह थमीं। लौटकर वहीं से पूछा—"तुमने खा लिया ?"

मैं क्या बोलती ? चुप रही।

वह बोलीं—"जिसके जी में जो आवे, करो !" और वह तेजी से चलती चली गयीं।

मैंने रुपयों को लाकर तकिया के नीचे रख दिया। इन दो दिनों के अनाहार से मुझमें स्फूर्ति नहीं रह गयी थी। मैं सीधे पलंग पर आ पड़ी। आ पड़ी, तो भीतर से रुलाई फूटने लगी।

तभी माँ जी भीतर आयीं—"बहू, तू क्या चाहती है, बोल ! तेरे हाथ का खा लूँ ?—ला, खा लेती हूँ !—दे !"

मैं भौंचक माँ जी की ओर देखती रही। वहाँ सहज कुछ नहीं था। हिस्टीरिया की रोगी-जैसी वह लग रही थीं। मुझे उठती न देखकर बोलीं—"तेरा ही बनाया तो खाना है, चल मैं खा लेती हूँ।"

और वह रुकी नहीं। रसोई-घर की ओर चलीं। मैं जैसे-तैसे उठ रसोई-घर की ओर गयी। माँ जी ने परोसकर रखी थाली निकाल ली और जमीन में ही खाने के लिए बैठ गयीं। बैठ तो गयीं, लेकिन खा न सकीं। थाली को आगे लेकर वह कई क्षणों तक चुपचाप देखती रहीं। ग्रास उठाते-उठाते उन्होंने मेरी ओर देखा और जैसे भूखे बछड़े को देखकर गाय हुँकर उठती है, वैसे ही हूँक उठीं—"बहू !" और उनकी आँखों से छलछलकर आँसू बह आये। हाथ का ग्रास उन्होंने थाली में रख दिया। रुद्ध कण्ठ से बोलीं—"तू खा ले बहू, मुझे मजबूर न कर—"

मेरा अन्तस भींग आया था। मैंने माँ जी का हाथ पकड़कर थाली पर से उठा लिया।

माँ जी ने उठ आकर मेरे कन्धे का सहारा ले लिया। और उसी प्रकार कन्धे से लगी-लगी खाटपर आ बैठीं। ऐसे में जब मन बहुत भारी हो, शब्द रिक्त हो जाता है और समय ठहर जाता है। मैं दीवार का सहारा लेकर खड़ी हो गयी। माँ जी सिर झुकाये न जाने क्या सोच रही थीं। कि कण्ठ साफकर उन्होंने पूछा—"बहू, तू क्या भूखी ही रहेगी ?"

मैं क्या बोलूँ, यही सोचती रही।

माँ जी ने द्रवित कण्ठ से कहा—"ऐसे में कैसे चलेगा ? तू क्या समझती है कि इस बीच मैं खाती रही हूँ ? घर में एक प्राणी भूखा रहे और दूसरा खाय, यह तो मुझसे नहीं हो सकता था। यह तो

कोई जरूरी नहीं है बहू, कि जो तू बनाये, वही मैं खाऊँ। मैं अपने लिए स्वयं भी तो बना सकती हूँ। ऐसे ही क्या तू मुझे नहीं चलने देगी?" कहकर माँ जी आग्रह-पूर्वक सिर उठाये मेरी तरफ देखती रहीं कि 'हाँ' कह दूँ—बस 'हाँ' कह दूँ।

लेकिन मैं न 'हाँ' कह सकी और न 'ना'।

माँ जी तब बोलीं—"इस घर में मेरी कोख से ही पैदा हुई एक लड़की थी—पहली लड़की। जाह्नवी उसका नाम था। अच्छे कुल में शादी हुई थी। लेकिन वह न अपने नाम की पवित्रता रख सकी और न कुल की मर्यादा। अन्त को वह जल मरी। मेरे ही आगे तड़प-तड़प कर मरी। लेकिन मेरे मन को न जाने क्या हुआ था कि उसका छूआ अन्त तक नहीं खा सकी। वैसा ही कुछ मेरे मन में फिर पैदा हुआ है बहू! वह सन्तान के प्रेम से भी ऊपर लगता है, जो मुझे भीतर-ही-भीतर रुलाता है, सताता है, लेकिन बान्धे रखता है। ऐसे में मैं क्या करूँ, बोल! तू भी दुख मानकर चलेगी, भूखी रहेगी, तो मेरा निस्तार कैसे होगा? कुमार नहीं समझता—मेरी व्यथा को कुमार नहीं समझता। वह घर से भाग गया है। मैं उसे क्या कहूँ?—किसे क्या कहूँ?—क्या कहूँ?"

माँ जी का सिर अतिशय व्यथा-भार से झुक गया। ऐसे ही बहुत क्षण निकल गये, तो माँ जी उदग्र हुईं। बोलीं—"बहू, तू एक बार कह दे कि तू गंगा की तरह पवित्र है, तो मेरे भ्रम का निवारण हो जाय!"

मैं उसी प्रकार दीवार से लगकर चट्टान बनी खड़ी रही। मेरे पाँवों के नीचे धरती नहीं रह गयी थी। सिर पर छत नहीं थी, दीवारें नहीं थीं। चारों ओर शून्य वायव्य ही भरा था और मैं किसी अदृश्य सूत्र के सहारे टँगी खड़ी थी।

माँ जी का स्वर सुनकर मैं अपने में लौटी। सुना—"अच्छा, जो कुछ है, वह रहे।...लेकिन मुझे लेकर अब तू हठ न कर बहू! जाकर खा ले!"

मन में यह बान्धकर कि हठ न करूँगी, रसोई घर में आयी। लेकिन थाली आगे में लेकर यही सोचती रही कि मुझसे खाया जायगा? कैसे खाया जायगा? अपवित्र हूँ। इस घर में चारों ओर से त्याज्य हूँ—अस्पृश्य हूँ। इस घर में एक लड़की थी—जाह्नवी। वह न अपने नाम की पवित्रता रख सकी और न कुल की मर्यादा। बाद को वह जल मरी। माँ जी ने जाह्नवी को भी अस्पृश्य मान रखा था। यही सब सोचती मैं थाली के आगे बैठी रही। फिर उठ गयी। और थाली को ढाँककर एक ओर रख दिया।

साँझ होने के बाद, जब अन्धेरा घिर आया, तो मैं छत पर चली आयी। आश्विन का चाँद आकाश में भरपूर था और खिला था। नीचे धरतीपर चाँदनी बिछी थी। उसी बिछी चाँदनी में कम्बल डालकर चाहने लगी कि नींद आ जाय, तो इस भागती-दौड़ती बातों से मन को छुटकारा मिले। लेकिन नींद आयी नहीं और मैं सोचती रही कि क्या करना होगा। वह अदृश्य जाह्नवी दृश्य हो-होकर सामने आने लगी। लेकिन वह पकड़ में नहीं आती कि वह अपने नाम की पवित्रता की रक्षा कैसे नहीं कर सकी? और कि वह जल कैसे मरी? नारी, जो साध्वी नहीं है, पतिव्रता नहीं है, उसके प्रति घृणा क्या बहुत असहज है? नहीं, असहज एकदम नहीं है। वह त्याज्य हो सकती है, अस्पृश्य हो सकती है। उसके प्रति कठोरता बरती जा सकती है, निर्दयता की जा सकती है। लेकिन मैं? मैं क्या साध्वी रही हूँ? नहीं रही हूँ, यह सभी जानते हैं—पति भी और माँ जी भी। शायद भैया भी जानते हैं। लेकिन मेरे प्रति कोई निर्दय नहीं है। क्यों निर्दय नहीं है, यह बात मेरी समझ में नहीं आती, जब कि उन्हें होना

चाहिए। प्रेम? क्या प्रेम ही है, जो आदमी को एक साथ ही निर्दय नहीं होने देता? पति की तो मैं पत्नी हूँ। विवाह हुआ है और मैं उनसे बांध दी गयी हूँ। कहना यह ज्यादा अच्छा होगा कि वह मुझसे बांध दिये गये हैं। भैया ने जान-बूझकर ही ऐसा किया है। और यह कुमार कैसे थे कि सब कुछ जानकर भी बँध गये! प्रेम? वह क्या मुझसे प्रेम करते रहे हैं? फिर नाते में बँधे रहकर भी वह बँधे क्यों नहीं हैं? इसलिए कि मैं जूठी हूँ? जूठी हूँ, तो त्याज्य भी हूँ, अस्पृश्य भी हूँ। लेकिन यह मैं पति के लिए एक साथ ही त्याज्य और ग्राह्य भी, अस्पृश्य और स्पृश्य भी हूँ। यह सब कैसे है?

राजन! उसने मुझे पाना चाहा, पाया। लेना चाहा, लिया। इसलिए लिया कि मेरी ओर से कोई रुकावट नहीं थी। मैंने सोचा था, विवाह करूँगी। उसी के साथ नाता रहेगा और जीवन गुजरेगा। लेकिन उसी नाते में आ जुड़े यह कुमार! और जब यह आ जुड़े, तो मैंने इन्हें ग्रहण करना चाहा, पाना चाहा। पाया भी। लेकिन शरीर वह नहीं दे सके। इसलिए नहीं दे सके कि मैं अपना शरीर दूसरे को दे चुकी थी। शरीर अलग है, इसलिए मानना पड़ेगा कि मन भी अलग है। मन एक होता है, तो शरीर भी एक होता है।...और आज वह चले गये हैं। ऐसे में मैं क्या करूँ?....क्या करूँ?

अचानक रात में नींद टूटी। लगा कि मन में कुछ बन्ध रहा है। धीरे-धीरे मैं सीढ़ियाँ उतरी। बाहर का दरवाजा खोला और सड़क पर निकल आयी।...

सड़क सूनी थी और मैं गत-आगत से निस्पृह चलती चली जा रही थी—निर्भय। और वह पाँच मील की लम्बी राह जब खतम हुई

तो मैंने देखा, वह शैलबाला का बँगला था। क्या यहीं आने के लिए मैं आयी थी? पोर्टिको में गाड़ी लगी थी। उसमें ड्राइवर बैठा था;. कि गाड़ी अभी किसी को लेकर आयी है अथवा अभी किसी को लेकर जायगी। पोर्टिको में हलके नीले रंग का बल्ब जल रहा था। बड़ा दरवाजा, जो अन्दर की ओर गया है, वह आधा खुला था।

जिस कमरे में शैलबाला का संक्षिप्त बिस्तर पड़ा रहता है और जिसमें वह अपना अधिकांश समय गुजारती है, उसमें रोशनी जल रही थी। भीतर पति बैठे कुछ लिख रहे थे। अकेले थे। मैंने अपने से पूछा—तू यहाँ कहाँ आ पड़ी है निरुपमा? एक तो यह कुमार भटकते हैं, तू भी क्या वही रोग पाल रही है?

"—अरे! आप?" कानों में पड़ा, तो मैंने चिहुँककर देखा, शैलबाला विस्मय से भरी खड़ी थी।

शैलबाला का स्वर सुनकर पति ने लिखने का क्रम जारी रखते ही पूछा—"क्या है शैल?"

शैल ने मुझसे कहा—"आइए! अन्दर आइए!"

और मैं उसके हाथों में पकड़ी हुई कमरे में जा खड़ी हुई। न जाने किस अपराध के बोझ से मेरा सिर गड़ा था!

पति ने सिर उठाकर मुझे देखा। बस, देखा ही। कहा कुछ नहीं। पर आँखें विस्मय में किंचित स्फारित हुई और चारों ओर से सिमटकर फिर सहज हो गयीं। तब सहज स्वर में ही वह बोले—"तू आ गयी!" और शब्दों को इस प्रकार अलग कर चुप हो गये कि चलो, आ गयी, सो अच्छा ही हुआ। जहाँ तक उन्होंने लिखा था, उसके आगे दो-तीन सतरें और लिखीं और हस्ताक्षर की जगह पर चित्रकारी-जैसा कुछ बना दिया।

तब वह बोले—"शैल, मेरे प्रोग्राम में तो अब तब्दीली हुई।.... और देखो, मेरे बिना सब कुछ होता रहना चाहिए। मैं रुकूँ, इसलिए

काम रुके, यह तो अच्छा नहीं है। (मुझसे) बस, तुम इसी तरह आयी हो? या सामान भी है?....चलो, परिग्रह जितना कम हो, वही ठीक है।"

शैलबाला इस बीच चुपचाप कागज-पत्र सम्हालती रही।

पति हठात् उठकर बोले—"अच्छा, तो मैं चलूँगा—"

शैल उसी प्रकार कागजों में अपने को व्यस्त रखकर बोली—"गाड़ी तो तैयार है।" फिर जरा पुकारकर उसने कहा—"महेश, जरा सामान ले जाना!"

महेश नेपाली लड़का है। आया और महेश पप्पू के लिए ही रखे गये हैं। महेश आया और कुमार का सामान लेकर जाने लगा। सहसा शैल ने महेश से कहा—"एक मिनट ठहरना तो—" और उसने बगल के कमरे से दो साड़ियाँ और ब्लाउज लाकर अटैची केस में डाल दिये। बोली—"सफर में जरूरत होगी।"

मैं वाक-बद्ध-सी चुपचाप सब कुछ देखती रही।

तब शैल ने एक पर्स अटैची में रखा। पति ने वह देखकर पूछा—"वह क्या है शैल?"

शैल ने कुछ कहा नहीं, अटैची बन्द कर दी।

पति कुछ तीखे पड़कर बोले—"मैं पूछता हूँ, क्या है?"

शैल सहम आयी—"कुछ भी तो नहीं है।"

"कुछ कैसे नहीं है?" पति अटैची की ओर झुके।

शैल अतिशय विनीत बन आयी। अटैची की ओर असंदिग्ध निर्णय से बढ़े आते कुमार के हाथों का निवारण करती वह बोली—"पर्स है। आप बेठिकाने सफर में जा रहे हैं—"

"कितने रुपये हैं?"

शैल चुप रह गयी।

"मैं पूछता हूँ, कितने रुपये हैं?"

"गिना नहीं है।"

"गिना होना चाहिए। ये सब रुपये मुझपर खर्च होंगे—अकेले मुझपर। इसीलिए हिसाब होना चाहिए। हिसाब के बाहर मुझे क्यों लेना चाहती है शैल? कर्ज तो उतना ही लूँगा, जितना अदा कर सकूँ? बेहिसाब कर्ज देकर मुझे ऋणी रखना चाहती है? चाहती है कि मैं अनुग्रहीत होकर रहूँ?" कहकर वह अटैची खोलने लगे।

निगाहें जैसे द्रवित हो आयी हों, वैसे ही शैल ने कुमार की तरफ देखा। उन निगाहों की भाषा बहुत अनुतप्त थी। वहाँ अनुग्रहीत बनाने का दम्भ नहीं था। वहाँ तो सिर्फ देने का ही भाव था, त्याग करने का ही आग्रह था, कि लेनेवाला ले ले, तो वह स्वयं अनुग्रहीत हो, धन्य हो। कि वे निगाहें कहना चाहती हों—मैं क्या हिसाब माँगती हूँ? दुनिया में सब कुछ क्या हिसाब पर ही चलता है?—व्यवहारी होकर ही बनता है? बेहिसाब होकर भी कभी क्या मन को तुष्टि नहीं मिलती है?—पुष्टि नहीं मिलती है?

पति ने पर्स खोल लिया। गिना, तीन सौ-सौ के नोट थे। कुछ दस के और पाँच के भी थे। उन्होंने दस-पाँच के कुछ नोट रखे और बड़े नोट लौटा दिये। हँसकर सिर्फ इतना ही कहा—"पागल हुई है तू शैल!"

कुमार की हँसी पर शैल अँधेरी हो आयी।

पति बोले—"पच्चासी हैं। लिख लेना।....और देखो, मांगने की भी याद रखना। यों मैं भूल जाता हूँ। फिर दूसरे जन्म में कौन हिसाब देता रहेगा?"

और मुझे लेकर वह मोटर में आ बैठे।

मेरे सिर के भीतर न जाने कैसी-कैसी बातें चक्कर काट रही थीं। शैलबाला का व्यक्तित्व तो स्वयं संपुष्ट है। पर वह जो इस कुमार के आगे आनत-विनत होकर बिछ गयी है, उसे ऐसा क्यों होना चाहिए?

उसका भीतर कहाँ भरकर कसा है कि वह देकर खाली हो जाना चाहती है ?—चुक जाना चाहती है ? जैसे न दे पाकर वह बेचैन है। नारी को मैं जानती हूँ, पुरुष को भी शायद जानती हूँ। नारी इसलिए है कि बान्धे। और पुरुष की समर्थता इसी में है कि बन्धे। जो बान्धता है, वह सम्बन्ध में होकर है, चाहे वह सम्बन्ध प्रेम का हो, कि स्नेह का। लेकिन जो कुमार बन्धकर भी निर्बन्ध है, उससे इस शैलबाला का कैसा सम्बन्ध है ? क्या नारी और पुरुष का सम्बन्ध इसलिए है कि बीच में सेक्स है ?....और क्या यह सेक्स ही नहीं है, जो खींचकर लाता है और जोड़ता है ? या जोड़ पाने की चेष्टा में ही क्या आदमी भागता-दौड़ता नहीं है ? आदमी, जो अपने को क्रिया में, क्रान्ति में नियोजित करता है, वह भी क्या अपने को संप्राप्ति से जोड़ना नहीं है ? इस कुमार के बाहर मैं कहीं भी तो सेक्स नहीं पाती। वह भीतर-ही-भीतर इतना संयुत है, इतना नियंत्रित है कि सब दुर्बोध बन गया है। यह नियंत्रण इसलिए है कि औद्दाम्य है। नदी सब कुछ बहाकर न ले जाय, इसलिए किनारे को बान्धा जाता है। और नदी की तीव्रता में, उद्दाम निरंकुशता में, पाती हूँ, कि मैं ही तृण-सरीखा बहती चली जा रही हूँ।....लेकिन यह शैलबाला जैसी अभी दीखी है, उसे वैसी ही क्यों होना चाहिए ? उससे अलग वह क्यों कुछ नहीं है ? यही बात मन में बन्धकर मुझे पीड़ा देने लगी।....

: १४ :

हम लोगों के डब्बे में बैठते-न-बैठते गाड़ी खुल गयी। पति ने होल्डेल खोलकर पूरे बर्थ पर डाल दिया और आँखों-ही-आँखों में कहा कि 'बैठ जाओ।'

मैं एक किनारे अपने को खिड़की के सहारे लगाकर बैठ गयी। आज एक बार फिर मैंने अपने को पति की इच्छा पर छोड़ दिया था। मन में कोई जिज्ञासा नहीं थी कि पूछूँ—कहाँ जा रही हूँ? अज्ञात में यही भाव भरा था कि जिस व्यक्ति के साथ चल पड़ी हूँ, वही मेरा गन्तव्य है, उसी में मुझे जाना है। इसलिए खिड़की से सिर टिकाकर पाँवों को ऊपर ही समेट लिया। अब जाकर लगा कि मैं बहुत थक गयी हूँ और अवसाद का झीना-झीना मेरे चारों ओर घिर रहा है।

वह दूसरे बर्थ पर बैठ गये थे और आगे एक किताब खोल ली थी। जैसे वह अपने को कहीं से भी फुर्सत में रखना नहीं चाहते हों। बीच में कहीं गाड़ी रुकी। रुकी और फिर खुल गयी। डब्बे से न कोई उतरा और न उसमें कोई चढ़ा। गाड़ी जब तेज हुई, तो बाहर की खुली प्रकृति से ठंढी हवा का झोंका डब्बे में आ-आकर भरने लगा।

पति ने किताब पर से नजर उठाकर मेरी ओर देखा। शायद देखा कि उन्मुक्त प्रकृति को अपने बाहुओं में भरकर जो यह हवा दौड़ती आ रही है, उसकी उन्मुक्तता अच्छी नहीं है। उन्होंने मेरे सिर के पास वाली खिड़की को बन्द कर दिया। होल्डेल के एक ओर

से रैपर निकाला और मुझ पर डाल दिया। फिर न जाने किस भाव से उनके ओठों पर फूल-जैसा खिल आया—"ठण्डा तो लगता है—है न?"

मैंने सिर हिलाया कि हाँ। लेकिन भीतर की इस स्वीकृति में बाहर सिर हिला या नहीं, और हिला, तो मेरा भाव स्पष्ट हुआ या नहीं, यह तो पति ही जानें; लेकिन मेरा मन आभार से भरता आने लगा। मैं कहना चाहती थी कि ठण्डा है, तो इसी बर्थ पर चले न आओ!—इसी चादर के नीचे। लेकिन देखा कि वह जहाँ बैठे थे, वहीं जाकर बैठ गये हैं और सामने किताब खोल ली है।

फिर धीरे-धीरे तन्द्रा ने मुझे घेर लिया। न जाने कितने स्टेशन आये और तन्द्रा में व्याघात डालकर चले गये।

सवेरे पति ने उठाया—"बनारस आ गया है नीरू!"

मैं अधजगे में थी। वैसे ही आँख खोलकर देखा, मानो पूछना चाह रही होऊँ कि 'बनारस आ गया है, सो क्या यहीं उतरना है?'

उन्होंने पूछा—"बाबा बिसनाथ का दरसन कर लें, तो कैसा हो?....तीरथ-बरत में बिसबास नहीं है क्या?"

उनके शब्दों के उच्चारण के ढंग पर मैं मुस्कुरा आयी। साथ ही उठ भी आयी और रैपर को तह करने लगी। फिर होल्डॅल को बान्ध लिया और ऊपर से अटैची उतार ली।

वह जैसे-के-तैसे बैठे मुझे देख रहे थे। उन्हें देखकर मैं जरा भी नहीं समझ सकी कि बनारस में उतरना भी है। अपनी इस तत्परता पर मैं बहुत संकुचित हो आयी।

उन्होंने कहा—"तुम औरतों में पुण्य का भाव बहुत प्रबल होता है।....ए कुली!"

बात यह हुई कि बाहर प्लेट फार्म पर जाता कुली दीख गया और उन्होंने पुकार लिया। सामान उतरवाया गया।

उस सारा दिन हम दोनों बनारस की सड़क पर इधर-उधर भटकते रहे।

दूसरे दिन सन्ध्या समय इलाहाबाद पहुँचे।

तांगे पर बैठकर उन्होंने कहीं किसी मुहल्ले का नाम बतलाया। उस मुहल्ले में पहुँचकर उन्होंने किसी पुष्पा गुप्ता, स्कूल इंस्पेक्ट्रेस का पता पूछा। उन्हें बतलाया गया कि ऐसे जाना होगा, वैसे घूमना होगा; फिर दायें या बाएँ, क्या बतलाया गया, कि एक बहुत ही सफेद दुमंजिला मकान है, उसी में वह रहती हैं।

तांगेवाले ने उस मकान के पास लाकर कहा—"यही है क्या?"

'यही है क्या?' को निश्चित करने में ज्यादा परीशानी नहीं उठानी पड़ी। प्रवेश-द्वार पर ही लिखा मिला—पुष्पा गुप्ता, एम. ए., स्कूल इंस्पेक्ट्रेस।

तांगेवाले ने सामान उतारकर रख दिया।

एक नौकर बाहर निकला, तो पति ने पूछा—"पुष्पा देवी हैं?"

नौकर ने बतलाया कि अभी वह कहीं बाहर गयी हैं। घंटे-भर में लौट आयँगी। और पूछा—"आप लोग कहाँ से आ रहे हैं?"

"पटने से—"

कहकर पति ने मेरी ओर देखा। जान-बूझकर नहीं देखा। एका-एक जो पलकें उठायीं, तो मैं ही सामने दीखी! उन्होंने नौकर की ओर मुड़कर कहा—"हम लोग यहीं ठहरेंगे, सामान अन्दर रखो!"

और हम लोगों का सामान अन्दर रखा गया। ऊपर की मंजिल पर के एक कमरे में दो पलंग लगायी गयी। बिस्तरे लगाये गये। इस बीच पति ने यह किया कि नित्यकर्म से फारिग हो लिया।

मैं बाहर की ओर रेलिंग के सहारे खड़ी होकर दूर सड़क पर देखती रही। वहाँ मोटरें चल रही थीं, आदमी चल रहे थे—सब तरह के आदमी। लेकिन दृष्टि में उनका कोई रूप समा नहीं रहा

था। सोच रही थी कि जिसके आश्रय में हम आ पड़े हैं, वह पुष्पा देवी कौन हैं? स्कूल इंस्पेक्ट्रेस तो हैं, और एम. ए. भी हैं। पर इतना ही से उस पुष्पा देवी को कैसे समझ लिया जायगा? कुमार जिस पुष्पा देवी के यहाँ आ पड़े हैं, उसे पुष्पा देवी-भर मानकर चुप नहीं रहना होगा। और यह भी कैसे मान लिया जाय कि यह पुष्पा देवी कोई शैलबाला नहीं है?

"बाथरूम से हो लो न!"

—कानों में पड़ा, तो मैं सचेत हुई।

बाथरूम से लौटी, तो देखा, सामने पति नाश्ता रखे इन्तजार कर रहे हैं। यों कह लीजिए तो इन्तजार ही कर रहे हैं। पर वह कुर्सी में बैठे हैं। कुर्सी की दोनों बाँहों पर अपनी बाँह टेके हैं और कोण बनाती जहाँ दोनों भुजाएँ मिली हैं और उँगलियाँ आपस में गुँथी हैं, उसी पर ठुड्डी का भार देकर वह कहीं देख रहे हैं।

मेरा आभास पाकर दूरस्थ उनकी दृष्टि लौटी—"बहुत देर लगा दी!....यहाँ नाश्ता तुम्हारा इन्तजार कर रहा है।"

उन्होंने ढँकी तश्तरी को खोला—"आओ,—आओ नीरू, देखो क्या ग्रैंड है!"

मैंने एक नजर प्लेटों की ओर देख लिया। बोली—"आप कीजिए!"

"वाह रे! यह भी कोई बात है कि कीजिए!" उन्होंने कहा—"मैं पूछता हूँ, साथ क्यों नहीं करो?....मान करोगी क्या?"

मैंने उनकी ओर देखा। मन में उभर-उभरकर आने लगा—मान?—मान?

मैं चुपचाप कुर्सी खींचकर उनके सामने बैठ गयी।

उन्होंने खाते-खाते ही कहा—"पुष्पा तो बहुत अच्छी तरह रह लेती है!....पैसे की अच्छी जुगत हो, तो सब अच्छी तरह रहें। लेकिन

इस भारत में इस प्रकार रहने वालों की गिनती कितनी है?....क्या होगी गिनती? कुछ नहीं! जितनी उँगलियाँ हैं, उतनी भी नहीं। बाप रे! इस देश की आबादी तो देखो, एकदम से ३६ करोड़ है; और लोगों की आमदनी ३६ पैसे भी नहीं है। लोग भिखारी न हों, तो क्या हों? इंस्पेक्टर हैं, डाक्टर हैं, मिनिस्टर हैं, पूँजीपति हैं, जमींदार हैं, ये सब ३६ पैसों में से ही छीन-झपटकर अपने लिए छत्तीस सौ करते हैं।.... अरे! तू खाती नहीं है नोरू!"

न जाने मैं कहाँ अँटकी रह गयी थी! मुझे लग रहा था कि मेरे और उनके बीच जो सबसे निकट की बात है, वह सबसे दूर टाल दी गयी है। पर मन में वह निकट ही है। घर छूटा है, परिवार छूटा है और भटकने को अपना लिया है। एकाएक यह भटकना ही सबसे निकट बनकर क्यों रह गया है? और इस भटकने को लेकर अब आगे क्या करना है? लेकिन वही बात अब दूर टाल दी गयी है और बातें देश की हो रही हैं, समाज की हो रही हैं।

इस बीच नौकर आया और चाय रख गया।

चाय के साथ वह अखबार भी रख गया था। पति ने अखबार का एक पन्ना पलटा, दूसरा पलटा, तीसरा पलटा और फिर चौथा भी पलट लिया और तह लगाकर घुटने पर डाल लिया। चाय की चुस्की ली और बोले—"इस बीच पुष्पा आ जाय, तो हम लोग सिनेमा चलें।....कैसा रहेगा?"

'कैसा रहेगा?' मैंने भी अपने मन से पूछा। और सोचती रही कि 'कैसा रहेगा?'

तभी कमरे में एकदम से आ आविर्भूत हुई एक क्षीणकाय नारी—धवल वसना, सौन्दर्य की गरिमा से वेष्टित। आकर अकचकाकर वह खड़ी हो गयी। मन में एक साथ ही गद्गद उल्लास भर-उभरकर कण्ठ में आ छाया—"ओहो!" मानो कि इस सुख ने अनायास

आकर प्राणों को चारों ओर से हठात् भर लिया है, रिक्त कहीं नहीं छोड़ा है और भीतर का वायु-गुल्म भीतर अपने लिए कहीं अवकाश न पाकर बाहर निकल आया है और स्वर बन गया है—'ओहो !'

'ओहो !' कहकर वह अतिशय कृतज्ञ, आभार-ग्रस्त और प्ररुद्ध होकर खड़ी हो गयी, मानो हठात् कुछ सूझ नहीं रहा है कि वह क्या बोले, कि अन्तर के उद्वेल को वह एक साथ ही किस आचरण द्वारा अभिव्यक्त करे।

'ओहो !' सुनकर पति ने उधर देखा—"पुष्पा ?"

और पुष्पा इस स्वर से भींगकर अकस्मात ऐसी हो पड़ने को हुई कि वह दौड़कर कुमार के चरणों में आ पड़े और बिछ जाय। लेकिन बल-पूर्वक वह अपने को रोके रही। उसकी उज्ज्वल आयत आँखों में छल-छलकर कुछ आया, वह ढलका नहीं, वहीं का वहीं छाया ही रहा।

कुमार ने उस अचेत होती हुई प्रतिमा में जैसे सम्बोध भरने के लिए टोका—"पुष्पा !"

पुष्पा चैतन्य हुई और बिना एक शब्द बोले उन्हीं कदमों वापस लौट गयी। पति की दृष्टि क्षण-भर उस दरवाजे की ओर लगी रही और उस दरवाजे से होकर अन्तर्धान होती हुई मूर्ति को देखती रही। और तब वह शून्य से टकराकर मेरी ओर लौटी। मैंने देखा कि उनकी वह दृष्टि भी तरल बन आयी है। सो मैंने अपनी पलकें नीची कर लीं—कि मैंने कुछ नहीं देखा है, कुछ नहीं समझा है। बस, मेरी नजरें तो ऐसी ही झुकी हैं।

और उस कमरे में रहकर भी हम दोनों ही वहाँ नहीं रहे।

दुबारे पुष्पा आयी, तो अनुस्थ, उद्यत लगी, कि उसमें अब कोई विकार नहीं है और वह भीतर से दृढ़ है—संबुद्ध है। पर कमरे में आ बैठकर उसने सुना—"कहो, कैसी रही पुष्पा ! देखता हूँ, अच्छी नहीं रही।"

क्या कुमार के स्वर में पीड़ा थी ? नहीं-नहीं, यह मैं क्या सोचने लगी ? पीड़ा क्यों होगी ? स्वर के सहारे जैसे पलकें उठी हों, उसी तरह हौले-हौले पुष्पा ने पलकें उठायीं। उन आँखों में कृतज्ञता ही थी, कि सब तुम्हारी कृपा है। जैसी भी रह लेती हूँ, अच्छी ही हूँ।

तब मैंने देखा, वह पुष्पा अपने में कहीं उद्यत नहीं है। अब वह बिखरी-बिखरी होने को है। उसने जल्दी से कुमार पर से अपनी पलकें लौटा लीं और कमरे के बीच में, शून्य में देखने लगी—कातर।

ऐसे में बीच में सामान्य विषय की बहुत जरूरत होती है, जिसमें मन उलझ जाय और भीतर की उद्विग्नता, कातरता कटे। नहीं तो इस तरह मूक हो पड़ना क्या अन्तर की व्यथा को नहीं खोलता है ?

कुमार बोले—"यह निरुपमा है—"

पुष्पा ने किंचित गरदन मोड़कर मुझे देखा। मैंने दोनों हाथ जोड़कर नमस्ते की ध्वनि की। पुष्पा के भी हाथ जुड़े और कण्ठ से अस्पष्ट-सा कोई स्वर निकला। वह उड़ती निगाहों से मुझे देखकर पह-चानने लगी कि मैं कौन निरुपमा हूँ।

कुमार बोले—"शायद छः वर्षों के बाद तुमसे भेंट हुई है—है न पुष्पा !"

पुष्पा ने समर्थन में जरा सिर हिलाया।

उन्होंने कहा—"देखता हूँ, काया तुम्हारी वैसी ही क्षीण है।"

पुष्पा कातर जरा मुस्कुरायी।

वह बोले—"शायद तुम्हें नहीं मालूम, मैंने शादी कर ली है। यह निरुपमा—"

तब पुष्पा ने नजर भरकर मुझे देखा और एकदम से अपनी कुर्सी छोड़कर मेरे पास आयी। मेरे दोनों हाथों को उसने अपने हाथों में लिया और दबाया—"आपका सौभाग्य है बहिन !"

पति अनुद्विग्न हँसे—"सौभाग्य तो खूब है! यह तो निरुपमा ही जानती होगी!....बेचारी मेरे साथ शादी कर जहमत में पड़ गयी है। कई बार तब से इसने मुझसे कहा है—'मुझे छोड़ दो कि तुम्हारी राह से हट जाऊँ!' लेकिन मैं हूँ कि इसे नहीं छोड़ता। छोड़ भी कैसे सकता हूँ? 'विवाह' तो ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि छूट जाय!....और राह पर से हटना क्या? भाई, जब तक तू राह पर चल रही है, मुझे भी भरोसा है कि चल लूँगा। तेरे राह से हटने पर मैं तो गुमराह हो जाऊँगा। स्त्री का काम क्या है? यही न, कि वह पुरुष को चलावे, गति दे। सो भाई, मुझे चलना है, गति में रहना है, फिर तुझे कैसे छोड़ दूँ?"

पुष्पा इस बीच कातरता से उबर आयी थी। उसने एक बार फिर मेरे हाथों को दबाकर छोड़ दिया। न जाने क्यों मेरा मन भारी हो उठा। मैंने कुर्सी की पीठ से सिर टिका दिया और आँखें बन्द कर लीं।

पति जो कुछ क्षण के लिए रुक गये थे, बोले—"तुम्हारे पीछे तुम्हारे नौकरों ने मेरा खूब ही आतिथ्य किया है पुष्पा! उसके लिए क्या तुम मुझे धन्यवाद देने दोगी?....लेकिन आतिथ्य तो अतिथि का ही होता है। और जो अतिथि बनकर न आये, उसके साथ तुम्हारा क्या व्यवहार होता है, मैं नहीं जानता। इतना मैं जानता हूँ कि मैं यहाँ अतिथि होकर नहीं आया हूँ, कि कल या परसों चला जाऊँगा। यहाँ रहूँगा। एक महीना रह सकता हूँ, या फिर कई महीने भी रह सकता हूँ। जान लो कि घर से झगड़कर आया हूँ। ऐसे में तुम अपने यहाँ रखना चाहो, तो रखो, नहीं तो साफ कह दो!....एक बात और साफ करने की है कि हम, याने मैं और यह निरुपमा, तुम पर भार बनकर नहीं रहना चाहेंगे। पेइंग गेस्ट रखना चाहो, तो

रखो, नहीं तो कोई दूसरी व्यवस्था कर दो। तुम्हारा यहाँ अच्छे लोगों में चीन्ह-परिचय है।"

इस पर मैंने छिपती नजरों से देखा कि मेरी बगल में बैठी पुष्पा अकबका आयी कि क्या बोले। कुछ निर्णय न कर पाकर चुप ही रही। मानो कहना चाहती हो कि यह कैसा अन्याय है जी, कि एक-दम से अपना होकर नहीं रहना चाहते हो, किनारा काटकर ही रखना चाहते हो। तुम दो प्राणियों के खाने से मेरा क्या घट जायगा?

पति ने कहा—"लेकिन भाई, पैसों का फिलहाल हिसाब ही रहेगा। वह बाद को मिलेगा। निरुपमा को कहीं काम में लगना है। वह अपने लिए भी पैसे प्राप्त करेगी और मेरे लिए भी।" कहकर वह हँस पड़े।

पुष्पा बोली—"आप तो जानते हैं, यह घर है। परिवार का व्यक्ति अपने खाने-पीने के पैसों का हिसाब रखे, यह क्या बहुत शोभनीय है?"

कुमार—"शायद नहीं भी हो। पर परिवार को जब परिवार-जैसा ही चलना हो, तो परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपनी कमाई का पैसा मुखिया के पास भरना चाहिए। ऐसा करने की इजाजत तो इस निरुपमा को दोगी?"

पुष्पा कुछ जवाब देने को उद्यत-सी लगी, तभी कुमार बोल उठे—"लेकिन ऐसे में पुष्पा, तुम्हीं घाटे में रहोगी। क्योंकि कमाने वाली तो होगी यह निरुपमा एक और खानेवाले कई होंगे—मैं हूँगा, और जब-तब—"

पुष्पा ने कहा—"अच्छा-अच्छा!!" मानो कि इस 'अच्छा-अच्छा' के बाद अब इस विषय के आगे पूर्ण विराम लग गया। उसने तब पूछा—"अभी क्या खायँगे आप?"

"क्या खाऊँगा? क्या इसकी भी फरमायश करनी होगी?"

"फरमायश करना क्या बुरा है?"

"नहीं-नहीं! जो बनता है, वही बनवाओ! हम लोगों के लिए अलग से कुछ नहीं सोचो!"

"यहाँ क्या बनता है! पेट भरने के लिए कुछ भी बन जाता है और खा-खू लिया जाता है।"

"हम भी वही कुछ खा-खू लेंगे।" कुमार किंचित हँसे।

पुष्पा के ओठों पर भी स्मिति खिली—"वह बात नहीं है। यहाँ इस समय रोटी बनती है। यों समझिए कि रोटी ही बनती है। क्या आप लोग भात भी खाना पसन्द करेंगे?"

कुमार ने पूछा—"बनाता कौन है यहाँ?—रसोइया?"

पुष्पा भीतर की हँसी से भरकर खिल आयी—"बनाता तो है वही; लेकिन आप चाहते हैं कि यह पुष्पा ही बनाकर खिलावे, तो क्या यह मेरे लिए सौभाग्य नहीं होगा?"

कुमार ने कहा—"तुम औरतों को समझा पार नही लगेगा भाई! कितना हू पढ़-लिख जाओ, लेकिन इस रसोई-घर से आसक्ति बनी ही रहेगी।....और सच पूछो, तो जिस रसोई-घर में चूड़ियाँ नहीं खनकतीं, वहाँ भोजन में स्वाद नहीं मिलता।"

पुष्पा बोली—"तो देखती हूँ, भोजन में स्वाद मिले, इसके लिए अब मुझे ही सब कुछ करना होगा।"

और पुष्पा एकदम से चली जाने को हुई। पति ने कहा—"इस निरुपमा को भी अपने रसोई-घर में लिये जाओ। एक से दो भले होते हैं। और शायद इधर ओहदे पर आकर तुम्हारी पाक-कला बिसर गयी हो।"

"नहीं-नहीं-नहीं।" कहती पुष्पा चली गयी। दूर से उसकी आवाज सुनाई पड़ी—"कुछ जरूरत हो, तो कहिएगा। नीचे हूँ।"

पुष्पा के चले जाने पर पति ने मुझे आँखों से इशारा किया कि जाओ, पुष्पा के पास ही जाओ।

मैंने खोजकर पुष्पा को पा लिया। वह रसोई घर में खड़ी महराज को कुछ आदेश दे रही थी। चूल्हे पर कुछ चढ़ा था। मुझे देखकर पुष्पा बोली—"आइए, आइए! यही रसोई-घर है।....उन्होंने आपको यहाँ भेज ही दिया? वह भी खूब हैं!"

"नहीं-नहीं।" मैंने कहा। लेकिन वह 'नहीं-नहीं' स्वयं बोल रहा था कि हाँ-हाँ, उन्होंने भेज दिया है, सो मैं आ गयी हूँ।....

पुष्पा ने बेंत का एक मोढ़ा रसोई घर के आगे बाहर ही रखते कहा—"आराम तो करने देते! सफर की थकी थीं।....बैठिए!"

मैं बैठी नहीं। प्रस्तुत-सी खड़ी रही कि कहो, क्या करना है।

पुष्पा अलक्ष्य भाव से बोली—"क्या बनाया जाय?" और फिर मुझपर नजर गड़ाकर कहा—"वह क्या खाना पसन्द करते हैं?"

मैंने कहा—"उनकी पसन्द का क्या? बस यही, कि कुछ पसन्द नहीं है।"

पुष्पा सहास बोली—"अपने साथ छः-सात साल तक रखकर भी आप उन्हें नहीं बदल सकीं?" और अकारण जैसे खिल-खिलकर हँस पड़ी।

और जब उसने कुछ कहने के लिए मेरी ओर सिर उठाकर देखा, तो सहमकर रह गयी। उसने उस प्रकार हँसकर कुछ तोड़ तो नहीं दिया, ऐसे ही संभ्रम में कातर हो आयी।

मुझमें क्या था कि देखकर वह इस प्रकार पीड़ा-ग्रस्त हो आयी? ठहरिए! मुझमें जो था, बतला दूँ। पुष्पा ने जब कहा—'अपने साथ छः-सात साल रखकर भी आप इन्हें बदल नहीं सकीं?' तो एक अनुताप-सा लहर उठा और मुझे व्यथा से भरने लगा। व्यथा की वही परिच्छाया शायद मुझे घेर कर मूर्त हो उठी। उसे ही देखकर पुष्पा सहम उठी थी।

वह क्षण-भर अँटकी मुझे देखती रही और फिर सब कुछ को व्यर्थ कर रसोई-घर में चली गयी। भीतर से छुरी, थाली और गोभी का फूल ले आयी। पीढ़ा डालकर वह अन्यमनस्क-सी बैठ गयी कि फ़ूल वह काट लेगी; लेकिन वह सारी चीजें मेरी ओर बढ़ाकर उठ खड़ी हुई—"आप काटिए। पकौड़ी बनेगी। इतने में देख लूँ कि मसाले सब हैं कि नहीं।"

पुष्पा भीतर जाकर छोटे-छोटे डब्बों को ढूँढ़ती-देखती रही।

कि पति रसोई घर के दरवाजे पर ही आ उपस्थित हुए—"पुष्पा!"

पुष्पा भागकर बाहर आयी।

कुमार ने पूछा—"अपना जो मित्रा था, वह, सुना है, यहीं कहीं प्रोफेसर हो गया है। कहाँ है? कुछ पता-ठिकाना है मालूम?"

"अभी आप मित्रा के यहाँ जाइएगा?"

"क्यों, अभी तो तुम लोगों का खाना भी तैयार नहीं हुआ। इतने में तो मैं लौट ही आऊँगा।"

"वह कटरे में रहता है....लेकिन उससे मिलना क्या अभी इतना ही अनिवार्य हो गया है?"

"अनिवार्य क्या—?"

"—तो फिर कल चले जाइएगा। या फिर उसे ही बुलवा लिया जायगा।"

"कटरे में वह कहाँ रहता है?"

"नये कटरे में है। पूछने पर पता मिल जायगा। लेकिन—"

"दो घंटे में मैं लौट आऊँगा।" और कुमार चले गये।

पुष्पा चुपचाप उधर ही देखती रही। फिर उसने साँसों को खींचकर एक क्षण कलेजे के भीतर रखा और फिर छोड़ दिया। मुझसे पूछा—"दो घंटे में क्या वह लौट आयेंगे?"

मैंने उसकी ओर सिर ऊँचाकर देखा—"अँयँ—"

वह भावसिक्त होकर बोली—"ऐसा भी तो हो सकता है कि उन्हें उधर कुछ काम निकल आये और वह नहीं लौटें—"

मैंने कहा—"हाँ-आँ—"

और पुष्पा ? पुष्पा मुझे दुर्बोध लगी। यह कुमार को कितना निकट से जानती है। यही मैं तौलती रही। यह अपने मन में उनके लिए व्यथा पालकर रखे है। क्यों रखे है ? जिस कुमार को मैं पति बनाकर भी नहीं समझ सकी, उन्हें यह क्या समझती है ? या फिर कुमार नाम का यह प्राणी एक साथ ही सबके लिए इसी प्रकार अभेद्य है ?....

करीब एक घंटे बाद बाहर हॉल में पति का स्वर सुनाई पड़ा। और साथ ही किसी के बात करने और हँसने का भी। वह स्वर निकट होता गया और आँगन में चला आया। पति का स्वर अधिक स्पष्ट होकर गूँजा—"देखो जी, कौन आया है ?"

मैं आँटा गूद रही थी। सामने देखा, किसी के साथ पति खड़े हैं। आँचल को मैंने जरा सिर पर खींच लिया। पुष्पा ने झांककर एहतियात कर लिया और भीतर से ही बोली—"इन्हें कहाँ से पकड़ कर ले आये ?"

"अभी बाहर तांगे पर मिल गया।"

पुष्पा ने पूछा—"खाना देर से खाइएगा ? मैं कहती हूँ, जब चीजें तैयार हैं, तो बैठ ही क्यों न जाइए !"

पति उस साथ वाले व्यक्ति से बोले—"हां जी, बैठ ही क्यों न जाओ ! खा-पीकर स्थिर से बातें होंगी।"

पुष्पा ने पुकारकर कहा—"कोई है? पटरे लगाओ!" फिर उत्साह से मेरी ओर चकले-बेलन करती बोली—"आप पूरियाँ सेंकिए! देखूँ, कैसी पूरी सेंकती हैं आप! मैं तब तक थालियाँ लगा देती हूँ।"

और इस तरह खाने का कार्य आरम्भ हुआ। साथ में जो व्यक्ति आया था, वह किसी अखबार में सम्पादक था। खाते-खाते लोग देश-विदेश और राजनीति के वाद-विवादों में उलझे रहे। और खाना खतम कर उठ गये।

पुष्पा कसैली-इलायँची लेकर उन लोगों को अपने ड्राइंग रूम में पहुँचा आयी। और तब हम दोनों खाने में जुटे।....

पुष्पा ने देखा कि ग्यारह से ज्यादा बज आये और उनकी बातों का क्रम अब भी नहीं टूट रहा है, तो वह ड्राइंग रूम में जाकर बोली—"पता है, ग्यारह बज गये!"

कुमार बोले—"अच्छा! ग्यारह बज गये?"

पुष्पा ने तब उस सम्पादक पदधारी व्यक्ति से कहा—"मेहता जी, आपका बिस्तर भी यहीं लगेगा क्या?"

कुमार—"हाँ-हाँ, यहीं लगेगा।"

मेहता एकदम से जाने के लिए समुद्यत होकर बोला—"नहीं-नहीं-नहीं, मैं जाऊँगा। और अभी तो तुम हो कुमार! कल ऑफिस में ही आओ!" और वह एकदम से उठकर चला गया।

कुमार तब जैसे व्यर्थ हो आये और उस कमरे में ही न जाने कहाँ देखने लगे। पुष्पा ने टोका—"अब यहाँ क्या रखा है? ऊपर चलिए!"

कुमार के मुँह से निकला—"आँ?" जैसे चेत हुआ हो—"हाँ-हाँ, ऊपर तो चलना ही है।"

और वह झटपट उठकर ऊपर चले गये।

ऊपर आकर मैं कमरे के बाहर खड़ी-खड़ी सोचती रही—यहाँ तो एक ही कमरे में दो खाटें डाली गयी हैं। पति रात के एकान्त में, सन्नाटे में क्या मुझे अपने साथ झेल सकेंगे? कभी क्या झेल सके हैं?...और रात में एकाएक वह कहीं उठकर बाहर बिस्तर डालकर लेट जायँ, तो वह कैसा अशोभन होगा? नहीं-नहीं, यहाँ कुछ भी प्रकट होना मरण के समान होगा।...तो मैं क्या करूँ? ओ रे, क्या करूँ?

बाहर खिड़की से ही देखा, पति खाट पर लेटे हैं और चुप छत की ओर टक बान्धे देख रहे हैं। मैं वहाँ से दबे पाँव नीचे उतर आयी। सीढ़ियों के नीचे मिली पुष्पा। उसने पूछा—"कहाँ चलीं आप?"

"आप कहाँ सोती हैं?"

"मैं?"

"हाँ, आप—"

"क्यों?"

"मैं भी आपके साथ ही सोऊँगी।"

"उन्होंने कहा है?"

"नहीं—"

"तब?"

"मैं आपके साथ ही सोऊँगी।"

"नहीं-नहीं। यह भी कोई बात है कि आप मेरे साथ सोयँगी? और वह अकेले सोयँगे?"

"उन्हें बुरा नहीं लगेगा।"

"नहीं-नहीं। आप चलिए—ऊपर चलिए !" कहकर पुष्पा रसोई घर की ओर चली गयी। और मैं ? कहीं भी नहीं गयी। वहीं विमूढ़ खड़ी रही।

कुछ देर में पुष्पा लौटी। उसके दोनों हाथों में दूध के दो गिलास थे और वह जतन से सम्हाले चलती चली आ रही थी। मुझे वहीं खड़ी देखकर उसमें किंचित विस्मय जागा! कुछ बेठीक, असहज उसे लगा। लेकिन जैसे वह भाव आया और गया। उसने कहा—"चलिए ! चलिए !"

मैंने दृढ़तापूर्वक कहा—"मैं आपके पास ही सोऊँगी।"

मेरे स्वर पर वह विस्मित ही रह गयी।

निकट से गुजरते हुए अपने नौकर से उसने कहा—"यह दूध जरा इनके कमरे में रख तो आ !"

और दूध नौकर के हाथों में दे वह मेरे आगे आ खड़ी हुई। मेरे मन में लगा कि यह इस प्रकार हठ करने की तो कोई बात नहीं थी। सो पुष्पा जब मेरा हाथ पकड़कर ऊपर की ओर चली, तो मैं चुपचाप अनुगत हो गयी।

पति उत्तिष्ठ होते हुए बोले—"पुष्पा ?—आओ-आओ !" और जब उन्होंने पुष्पा के हाथों में मुझे देखा, तो पूछा—"क्या बात है ?"

पुष्पा ऐसी हँसी, जैसे शरदेन्दु झील के रोओं को गुदगुदा दे और पुलक सिमट नहीं पाय। उसने जवाब कुछ नहीं दिया और मुँह में हँसी बन्द कर रखने की व्यर्थ चेष्टा करती रही। मैं एक कुर्सी की पीठ का सहारा लेकर खड़ी हो गयी।

कई क्षणों बाद पुष्पा अपनी खिली, बिखरी हँसी समेटकर मुझसे बोली—"दूध है, आप दोनों के लिए ! मैं जाऊँ ?—अँयँ ?—

जाऊँ न ?" और वह प्रतीक्षा में खड़ी रही कि संकेत में मेरा सिर जरा भी तिरछा पड़े कि वह वहाँ से चली जाय।

दो क्षण—हाँ, दो क्षण वह वहाँ और ठहरी और फिर एकाएक मुड़कर कमरे के बाहर चली गयी। बाहर जाकर उसने कमरे का दरवाजा झपटकर बन्द कर दिया और सिटकिनी चढ़ा दी।

पति अपने में जरा चंचल हुए—"पुष्पा !....यह क्या हरकत है जी !"

लेकिन बाहर कोई हरकत नहीं हुई। दरवाजे को जो झपाटे से बन्द किया गया था, उसकी गूँज शान्त हो चुकी थी और सन्नाटा-सा छा गया था। उस सन्नाटे को तोड़कर किसी पुष्पा की कोई आवाज नहीं आयी।

बाहर का वह सन्नाटा, जैसे संक्रामक हो भीतर भी आ फैला। पति की दृष्टि चारों ओर से लौटकर मुझ पर आ थमी। मैंने धीमे कहा—"दूध लीजिए !" और दूध लेकर उन तक बढ़ गयी।

उन्होंने दूध लेकर पी लिया। और कहा—"तुम भी पी लो !....न जाने इस पुष्पा को क्या बचपना सूझा है !"

दूध पी कर मैं चुपचाप पलंग पर आ लेटी। उन्होंने पूछा—"रोशनी की जरूरत तो नहीं है न ?"

मैंने बहुत धीमे कहा—"नहीं।"

और खट से रोशनी बुझ गयी।

एक मिनट बीता, दो मिनट बीता, तीन मिनट बीता। तब लगा कि दरवाजे पर बाहर सिटकिनी बहुत सावधान हाथों से धीरे-धीरे खिसक रही है। फिर सन्नाटा हो गया। मैं जो प्रतीक्षा कर रही थी कि वह दरवाजा भी अब धीरे-धीरे खुलेगा, सो नहीं खुला।

एक बार इच्छा हुई कि कमरे में रोशनी कर लूँ और एहतियात कर लूँ कि दरवाजा खोलकर छोड़ दिया गया है और बाहर कोई नहीं

है। लेकिन बेड स्विच था और वह पति के पास था। मन ने कहा—सो जा निरुपमा! बाहर कोई नहीं है—क्यों रहेगा कोई भला?

और इसी तरह घेर-घार में मन पर तन्द्रा छाने लगी। अधनींदी में ही ऐसा आभास हुआ कि कमरे के बाहर अब भी कोई जरूर है। तब वह आयी आधी नींद भी जग गयी। क्या दरवाजे पर पुष्पा है? क्यों है? अब तक बारह जरूर बज रहा होगा। वह यहाँ क्यों खड़ी है?

मैं दबे पाँव दरवाजे तक आयी। किवाड़ धीरे से खोला, तो खुल गयी। अन्धकार में ही देखा, पुष्पा दीवार से सटी, मूरत बनी खड़ी है। न जाने कहाँ देख रही है। तभी झक से रोशनी जल उठी। दरवाजे से होकर रोशनी ठीक पुष्पा के मुँह पर पड़ी। इस अप्रत्याशित रोशनी से वह चौंकी।

अरे! यह पुष्पा तो रो रही है! आँखें भींगी हैं, गाल तर हैं। क्यों?—क्यों?

पुष्पा तेज चलकर दूसरी ओर अपने कमरे में चली गयी।

और मैं दरवाजे पर पर्दे का छोर पकड़े खड़ी की खड़ी रह गयी।

"क्या है नीरू!"

पति ने टोका, तो मैं लौटी।

उन्होंने पूछा—"क्या है?"

"वह थीं—"

"पुष्पा?"

मैंने कहा—'हाँ।' यह 'हाँ' मैंने भीतर कहा जरूर। लेकिन वह बाहर आकर शब्द न बना, केवल ध्वनि में ही प्रकट हुआ। पुष्पा के आँसू जैसे मुझे घेरे थे। उन आँसुओं का उत्तर शायद पति के पास था। इसलिए मैं करुण, कातर, साग्रह उनकी ओर देखती खड़ी रही।

मुझे अभावयुक्त, भावसिक्त देखकर पति ने पूछा—"कोई बात है क्या नीरू ?"

"वह अभी खड़ी रो ही थीं।"

"कौन ?—पुष्पा ?"

'हाँ' के स्वर में मेरे मुँह से सिर्फ फेफड़े की हवा ही निकली।

पति जरा करुण हुए। फिर कहा—"तू जाके सो जा नीरू ! रात ज्यादा निकल गयी है।" और उन्होंने दीवार की ओर करवट बदल कर स्विच दबा दिया।

अन्धेरे में टटोलकर मैं बिस्तर तक आयी। खिड़की के बाहर चाँदनी थी और मौलसिरी की फुनगियों पर खिले फूलों से खेल रही थी। वे छोटे-छोटे फूल खिलकर सुवास बिखेर रहे थे और चाँदनी को मस्त बना रहे थे। मैं उन्हीं फूलों को देखती रही। फूल खिलते हैं और पुष्प बनते हैं और सुवास बिखेरते हैं। उनकी पंखुड़ियाँ सुन्दर होती हैं, कोमल होती हैं, और उद्ग्रीव होकर हवा में खुली होती हैं, जैसे की बासन्ती रंग की तितलियों ने उड़ने के लिए पंख खोले हों। तितली और पुष्प !....और यह जो एक नारी है—पुष्पा, वह अभी खड़ी-खड़ी बाहर रो रही थी। क्या है, जो उसे रुला रहा था ? यह खिली चाँदनी ? यह मौलसिरी का फूल ? नहीं—नहीं !

पति बिछावन पर सो रहे थे। सच ही क्या वह सो रहे थे ? नहीं, शायद नहीं। मैं छाती के नीचे तकिया लेकर लेट गयी। तभी पति ने कहा—"नीरू !"

"जी !"

"अभी सोयी नहीं ?"

"नहीं।"

"नींद नहीं आती ?"

"नहीं।"

वह चुप हो गये।

कई क्षणों के बाद मैं पूछ बैठी—"आपको मालूम है, वह क्यों रो रही थीं?"

"पुष्पा?"

"हाँ।"

"यह तो वही जाने।"

"आप नहीं जानते?"

पति चुप हो गये।

ऐसे में ही जब तन्द्रा चेतना को अवश करने लगी, तो कमरे में कुर्सी घिसटने की आवाज सुनकर मैं जाग पड़ी। कमरे में अन्धेरा ही था। पति कुर्सी खींचकर खिड़की से सटी मेरी खाट के पास ही ले आये थे। उस पर बैठते हुए उन्होंने कहा—"बाहर चाँदनी तो दक खिली है!"

मैं उसी प्रकार चुपचाप लेटी रही।

वह बोले—"यह पुष्पा सब दिन दुखिनी रही है नीरू! रोये नहीं, तो क्या करे बेचारी? तू इसके विषय में कुछ नहीं जानती। अच्छे घर की लड़की है यह। पिता भी हैं, माता भी हैं। शायद दोनो अभी जिन्दा हैं। शायद इसलिए कहता हूँ कि पुष्पा का सम्बन्ध सबों से टूट चुका है। कलकत्ते में यह पढ़ती थी, इन्टर में। तभी घर छोड़कर, परिवार से टूटकर यह निकल आयी। जिसके साथ निकल आयी थी, वह ज्यादा दिनों तक साथ नहीं निवाह सका। एक दिन लड़-झगड़-कर वह भी छोड़ गया। सुना कि लड़ाई में भर्ती हुआ। ट्यूनीशिया में कहीं था, वहीं प्रतिपक्षी की गोली का शिकार हुआ। तब क्या करती यह? परिवार में लौट सकती थी? नहीं लौट सकती थी। मैंने कहा, पढ़ो। खर्च की बात थी। उसका भी ठिकाना हो गया। बी. ए. किया। एम. ए. में पढ़ना चाहती थी। उसका

भी इन्तजाम हो गया। उसी समय मैं जेल चला गया। और इसकी पढ़ाई की कड़ी टूट गयी। इसने मुझसे जेल में जाकर पूछा—'नौकरी कर लूँ? बाद को पढ़ती रहूँगी।' मैं जेल में था। क्या कर सकता था? दोस्तों के पास लिखा; लेकिन कोई इन्तजाम नहीं हो सका। तुम्हारे भैया से मैंने कहा। उन्होंने कहा—'पुष्पा नौकरी कर ले, वही अच्छा है?' पुष्पा पहली बार अपने पाँव पर खड़ी हुई और तब उसने एम. ए. किया। अब तो अच्छी नौकरी से लगी है। इसके आगे-पीछे कौन है? कोई भी तो नहीं है। कहीं बन्ध जाय, तो जिन्दगी को सहारा मिले।"

पति चुप होकर मौलसिरी पर बिछी चाँदनी को देखते रहे।

बेचारी पुष्पा! यह किसके लिए अपने मन में स्नेह पाल रही है? इसके जीवन में न जाने कितनी निराशा, कितना निरुत्साह भरा है, जो जीवन को व्यथा में अँटकाये है। कुमार छः वर्षों के बाद यहाँ आये हैं....कुमार! और यह पुष्पा अभी थोड़ी देर पहले दीवार से लगी, अन्धेरे में खड़ी रो रही थी। क्यों?—क्यों—

पति बहुत देर तक उसी प्रकार बैठे रहे। फिर उठकर अपनी खाट पर जा लेटे....

: १५ :

चार दिनों तक पति वहाँ अँटके रहे। इस बीच वह किताबों में रहे और बन्द रहे। पुष्पा स्वयं ऊपर ही खाना पहुँचा देती। नाश्ता करा आती, दूध रख आती। वह कम बोलते। हाँ, ना, में जवाब देते; या बातों को सुनकर चुप रह जाते। पुष्पा भी टोकती नहीं। एकाध काम की ही बात होती—बाहर की कोई बात नहीं। समय पर पुष्पा पूछ लेती—'खाना ले आऊँ ?' वह सिर हिलाकर स्वीकृति की सूचना दे देते। नाश्ते का प्लेट आगे रखकर पुष्पा कहती—'नाश्ता है।' एक नजर वह पुष्पा को देखते और फिर प्लेट को। और फिर बिना कुछ बोले जल्दी-जल्दी नाश्ता खतम कर देते।

मैं दिन-भर प्रायः उनसे अलग ही रहती। सिर्फ रात में कमरे में आती। देखती, वह किताबों में गड़े हैं। धीरे से दरवाजा बन्द करती। वह पूछते—"नीरू ?"

मैं चुपचाप उनकी ओर देख लेती कि नीरू ही हूँ।

वह पूछते—"यहाँ जी लगता है ?"

मैं बोलती कुछ नहीं। कातर आँखें बतलातीं कि सब तुम्हारी कृपा है और मैं कृतज्ञ हूँ।...

उस रात लौटी, तो देखा पति पढ़ते-पढ़ते सो गये हैं। छाती के नीचे तकिया दबा है और आगे किताब खुली है। किताब तो खुली है, लेकिन पढ़नेवाला हार-थककर जरा देर को विश्राम ले रहा है। खाट पर इधर-उधर कई किताबें बीच से खुली फैली थीं और उनमें

लाल-नीली पेंसिलों से मार्जिन में कुछ लिखे थे। यह व्यक्ति अपने को फुर्सत में नहीं रखना चाहता। व्यस्तता में ही उलझाकर रखना चाहता है। इसके जीवन की लम्बी डगर है। उस डगर पर ठहरने का ठाँव भी है, छाँव भी है। लेकिन यह ठहरेगा नहीं। इसी तरह चलता चला जायगा। कोई भी ठाँव, कोई भी छाँव इसे बिलमा नहीं सकेगी। जो मुसाफिर निरन्तर चलने के लिए ही मजबूर हो, उसके लिए मन में क्या सहानुभूति नहीं जागती? जागती है। लेकिन इस व्यक्ति के साथ मैं अपनी सहानुभूति भी तो नहीं बाँट सकती!

मैंने किताबों को समेटकर एक ओर रख दिया। अपनी खाट पर से तकिया लाकर मैंने उनके सिर के नीचे रख दिया। फिर उनकी छाती के नीचे पड़े तकिये को आहिस्ता खींचा। ऐसा लगा कि वह जग गये हैं। करवट बदल ली और जैसे सुलाया गया, ठिकाने सो रहे। मैं खड़ी-खड़ी उनकी आकृति को देखती रही। यह आदमी अपने को इतना संताप क्यों दे रहा है?—क्यों तपा रहा है? तब मैंने उनके सिरहाने लगे स्विच को दबा दिया।

फिर चारों तरफ से व्यर्थ हो आकर उस अन्धेरे में मैं चुपचाप खड़ी रही।

कि जैसे सपना देख रहे हों, वैसे ही स्वर में पति ने पुकारा—"नीरू!"

मैं चुप रही। थमी रही।

फिर वही स्वर सुनाई पड़ा—"नीरू!"

मैं उनकी ओर झुकी—"जी!"

"क्या बजा होगा?"

"दस—सवा दस होगा।"

वह चुप हो गये। मैं वहीं, उनकी खाट पर पैताने बैठ गयी, कि ओरे थके मुसाफिर! इस छाँव में जरा बिलम जा। यहाँ नारी

की छाया है, जो स्फूर्ति देती है—पुंसत्व देती है। इस आँचल की हवा खा ले, थकान मिटा ले, तब आगे जाना। मैंने उनके चरणों को अपनी गोद में ले लिया और चाहा कि उसे हौले-हौले दबाकर उसकी श्रान्ति हर लूँ। कि उन्होंने अपने चरण मेरे हाथों से खींच लेना चाहा—"यह क्या करती है नीरू?"

मैं विगलित होकर बोली—"इन चरणों को भी लेकर रहूँ, इसका अधिकार भी क्या आप मुझे नहीं देना चाहते?"

"नीरू—"

"बोलिए, नहीं देना चाहते?"

वह तब बोले नहीं। उनके चरण शिथिल होकर ज्यों-के-त्यों मेरी गोद में आ पड़े। मैं उन चरणों को अपनी गोद में लिये चुपचाप बैठी रही।

उन्होंने पूछा—"तेरा इंटरव्यू कब है?"

"सोलह तारीख को।"

"चली जाना। अपने पाँव पर खड़ा होना अच्छा है।"

फिर वह बोले—"आज मैं जाऊँगा।"

"कहाँ?"

"शायद कानपुर की तरफ—"

"पटने भी जाइएगा?"

"कोई ठीक नहीं।"

"घर पर चिट्ठी दे दी है कि हम लोग यहाँ हैं?"

पति चुप हो गये।

मैं बोली—"न जाने घर पर लोग क्या सोचते हों, मेरे बारे में।"

"शैल ने खबर भेज दी होगी। जरूरत समझो, तो चिट्ठी लिख देना।"

"कब तक लौटिएगा?"

वह हँसे । आवाज मैंने सुनी नहीं, और न उस अन्धेरे में उनकी हँसी ही दिखलाई पड़ी । लेकिन मुझे लगा कि वह जरूर हँसे हैं । हँसे हैं कि जाना और आना क्या इतना ही निश्चित है, जो उसके बारे में कुछ बतलाया जा सके ?

सहसा कमरे में रोशनी हो गयी । उन्होंने स्विच ऑन कर दिया था । उन्होंने कलाई पर बन्धी घड़ी देखी और एकदम से उठ आकर कहा—"अब मैं चलूँगा ।"

दो-तीन किताबें उन्होंने उठायीं, रैपर लिया और बिना एक शब्द बोले वहाँ से चले गये ।

उस रात मैं ठीक सो नहीं सकी ।....

बीच का एक सप्ताह बहुत फीका गुजरा । इंटरव्यू का दिन आया । मैं कॉलेज गयी । तीन दिनों के बाद पुष्पा ने ही नियुक्ति-पत्र लाकर दिया । पहली तारीख से काम पर आने को लिखा था । चलो, काम में लगूँगी, तो यों अपने को बाँटूँगी तो ! यों रिक्त न होना और भीतर-ही-भीतर भरते रहना कोई अच्छा होता है क्या ? ऐसे में तो धूल की परत चढ़ती है और जंग लगती है, जो तेजी को कुंद करती है । बँटकर, रिक्त होकर आदमी फैलता है । फैलाव, यों समझिए कि जीवन को फैलाता है—गति देता है ।

उसी दिन साँझ में भैया आये । दो घंटे ठहरकर चले गये । पुष्पा ने बहुत कहा कि रात-भर रुक जायँ, लेकिन वह रुके नहीं । मालूम हुआ कि घर पर सभी लोग नाराज हैं । मैंने इस तरह आकर अच्छा नहीं किया है । जिस रात में मैं आयी, उसी रात बाबूजी (ससुर जी) पिता जी के पास राजापुर आये । वहाँ जब मालूम हुआ कि

रात में एकाएक निरुपमा कहीं चली गयी है, तो पिता जी चिन्तित हो उठे। भैया ने शैलबाला के यहां फोन किया, तो मालूम हुआ कि निरुपमा कुमार के साथ गयी है।

भैया के चले जाने पर पुष्पा कुछ कातर हो आयी। बहुत देर तक वह न जाने कहाँ अँटकी सोचती रही। मैंने टोका—"क्या सोच रही हैं आप?"

"मैं?" पुष्पा बोली और जैसे सोचना खतम नहीं हुआ है, वैसी ही हो रही। फिर एकाएक लौटकर बोली—"परिवार से टूटकर आदमी क्या पाता है?" और फिर भाव-सिक्त शब्दों में उसने अपने ही प्रश्न का उत्तर दिया—"कुछ भी नहीं पाता। परिवार तो इसलिए है कि उसमें सम्बन्ध है, स्नेह है, प्रेम है, प्यार है। उसमें आदमी अपने को बाँटता है और जीता है।....आपके भाई आपको बहुत प्यार करते हैं। है न?"

पुष्पा बहुत भाव-सिक्त थी। मैंने पूछा—"आपके भाई नहीं हैं?"

वह करुण मुस्कुरायी—"बस, वसुधैव कुटुम्बकम्।"

"आप यहाँ हैं, यह आपके घर वालों को मालूम है?"

"मेरा घर वाला कौन है? कोई नहीं।" पुष्पा बोली और उसने एक दीर्घ साँस लेकर छोड़ दी—"और घर भी हो, तब न? जो औरत घर छोड़कर निकल आती है, उसका कोई घर नहीं होता। जिस छाँव में वह खड़ी हो गयी, वही उसका घर होता है। जिसके सहारे लग गयी, वही उसका घर वाला होता है। लेकिन मेरा कोई छाँव नहीं है—कोई सहारा नहीं है।"

पुष्पा का स्वर बहुत ही भारी हो आया और कण्ठ में शब्द फँसने लगे। वह चुप हो गयी। वह दरवाजे के बाहर देख रही थी। लेकिन दृष्टि में कुछ बँधकर हो, वह बात नहीं थी। दृष्टि अपने आप में थी

और प्ररुद्ध थी। वहाँ उस दृष्टि में हौला-हौला उमड़कर कुछ आ रहा था। वह आया, बूँद बना और ढुलक गया।

पुष्पा ने आँचल के छोर से उन्हें पोंछ लिया और सिर को झटका दे दिमाग में आ गये भावों को अपने से दूर कर दिया। वह करुण कातर हँसी—"मैं भी कैसी हूँ?....इस तरह बैठने से काम चलेगा? कल दौरे पर जाना है। दो-तीन दिनों में शायद लौटूँ। इस बीच नौकर हैं, आप हैं। और आपको तो फिर घर-गृहस्थी सम्हालने के सारे कायदे मालूम हैं।" और वह झटपट मचाती वहाँ से चली गयी।

बेचारी पुष्पा!

: १६ :

लोग तो यही जानते हैं कि कुमार नाम का व्यक्ति पति है और निरुपमा, जो विवाह-सूत्र के सहारे उस कुमार से बान्ध दी गयी है, पत्नी है। पत्नी और पति का सम्बन्ध क्या होता है? इस सम्बन्ध के नीचे एक नारी और दूसरा पुरुष-भर ही नहीं है? निरुपमा और कुमार, ये तो ऊपर के नाम हैं, जिसके माध्यम से दुनिया बिलगावकर जानती है कि अमुक व्यक्ति कुमार ही है, निरुपमा ही है, और कोई नहीं है। लेकिन नाम से अलग अथवा नाम में ही बन्धकर सब पुरुष ही नहीं हैं?—नारी ही नहीं हैं। यह अखिल सृष्टि जो फैली है, वह किसमें से होकर आयी है? इसमें पुरुष और नारी के संयोग की ही अभिधा नहीं है? पुरुष इसीलिए तो है कि वह दे और नारी उस प्राप्त को लेकर उर्वर हो, लहरा उठे और अखिल भुवन को शाद्वल कर दे। और इसी प्रकार वह पुरुष से पा-पाकर रिक्त होती रहे—चुकती रहे। और पुरुष अपने को नारी में रिक्त करे—मुक्त करे।

लेकिन कुमार का पुरुष क्या कभी भी मेरी नारी के सामने मुक्त हुआ?—रिक्त हुआ? वह तो सदा अपने में गाँठ बान्धे रहा और उस गाँठ से स्वयं बन्धा रहा। पुरुष में जो नारी को अपने भीतर समा लेने की सहज और उन्मुख व्याकुलता रहती है, इसके प्रतिरुद्ध वह सदा कंसस रहा। बराबर सचेष्ट रहा कि वह अपने को ढीला न छोड़े।

खैर, तो मैं अपनी बात कहूँ—

पुष्पा दो दिनों से दौरे पर थी। रात का खाना खतम हो चुका था। शहर में कहीं कोई धार्मिक फिल्म लगी थी। नौकर छुट्टी लेकर सेकेंड शो में चला गया था। समूचे मकान में मैं अकेली थी। ऊपर जी न लगा, नीचे ही ड्राइंग रूम में आ गयी। किताबों की आलमारी खोली। एक किताब निकाली, फिर दूसरी निकाली, तीसरी निकाली। और फिर उन्हें यथास्थान रख दिया। तब एक किनारे से एक किताब खींच ली और आराम कुर्सी में आ लेटी। किताब खोलकर देखी। एंथ्रोपोलॉजी की किताब थी। मैं पृष्ठ पर जमी रही। किताब का नाम देखा, लेखक का नाम देखा। फिर यह देखा कि किताब कहाँ से प्रकाशित हुई है और कि कहाँ छपी है। दूसरे पृष्ठ पर कई पंक्तियों में लिखा था कि किताब कितनी बार छप चुकी है और बीच में दाम भी लिखा था। अनुक्रमणिका देखी, फिर प्रिफेस का पन्ना देखा और तब विषय में अँटक गयी।

तभी सुना, बाहर कोई कह रहा है—"दरवाजा खोलो जी!"

दरवाजा थपथपाकर और पुकारकर पुकारने वाला चुप हो गया। मैं प्रतीक्षा करने लगी कि फिर पुकार हो, स्वर पहचान लूँ, तो दरवाजा खो लूँ।

सुनाई पड़ा—"कोई सुनता नहीं है क्या?"

क्या राजन आया है? राजन का ही स्वर था। क्यों आया है?

दरवाजे पर का स्वर अधिक व्यग्र हुआ—"खोलो जी, सो गये क्या?"

मैंने दरवाजा खोल दिया। राजन भीतर चला आया। उसके हाथ में एक अटैची थी, सिर पर फेल्ट हैट था। चेस्टर में अच्छी तरह कसा था। गले में मफलर था। नीचे पैंट पहन रखा था। क्रेपसोल का जूता। भीतर आकर उसने दरवाजा बन्द कर लिया। फिर मेरी ओर

भर-नजर देखकर कहा—"अच्छा हुआ, तुमने दरवाजा खोला।....
और लोग कहाँ हैं?"

मैं किंचित विस्मित, अविश्वस्त उसकी ओर देखती रही।

उसने पूछा—"कुमार आ गया?"

मैंने नकार में सिर हिलाया। मुँह से कहा कुछ नहीं।

उसने जो दरवाजे की सिटकिनी बन्द करते समय अपने हाथ की अटैची फर्श पर रख दी थी, उसे उठाया और प्रस्तुत-सा बोला—"चलो, तुम लोग ऊपर ही रहती हो न?" और वह भीतर की ओर बढ़ा।

क्षण-भर मैं उसे विमूढ़ भाव से देखती रही। फिर अनुगत-सी चलने लगी। आँगन में आकर उसने पूछा—"किधर चलना होगा?"

"ऊपर।"

"रास्ता किधर से है?"

मैं कुछ बोली नहीं। इस राजन के आने से मुझमें न जाने कैसी दुर्लंघ्य विषण्णता आ भरी थी। उसी में ग्रस्त चुपचाप उधर बढ़ गयी, जिधर सीढ़ियाँ थीं।

सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते उसने पूछा—"इस घर में जो रहती हैं, कोई पुरुष हैं, वह कहाँ हैं?"

"नहीं हैं।"

विभ्रम में उसने पूछा—"कहाँ हैं?"

"दौरे पर हैं।"

"—और नौकर?"

"सिनेमा गये हैं।"

"ठीक है।"

यह ठीक है, जैसे उसने अपने से कहा। क्योंकि कहते-कहते स्वर बहुत हलका हो गया था।

कमरे में आकर उसने एक बार चारों ओर गौर से देखा। फिर अटैची को छोटे गोल टेबुल पर रखता हुआ बोला—"अभी यहाँ तुम्हारे अलावा कोई और नहीं है?"

मैं उसकी आँखों में देखती रही। वाग्बद्ध-सी सिर हिला दिया कि नहीं।

उसने चेस्टर का बटन खोल दिया और आराम कुर्सी में फैलकर बैठ गया। कहा—"मैं यहाँ आ गया हूँ, इससे तुम्हें हैरत है निरुपमा?"

मैं चुप खड़ी रही।

"हैरत नहीं होनी चाहिए—"

नहीं तो होनी चाहिए; लेकिन वह हो रही है। राजन के उस प्रकार एकाएक आ आविर्भूत होने की बात किसी भी प्रकार समझ में नहीं आ रही थी।

वह इकटक मुझे देख रहा था। धीरे से बोला—"बैठो!"

कुछ देर तक वह प्रतीक्षा में रहा कि मैं बैठूँगी; लेकिन मैं चुपचाप उसी प्रकार खड़ी रही, तो कहा—"तुम थकी नहीं निरुपमा? मैं तो थक गया हूँ। भागता ही रहूँ, ऐसी शक्ति मुझ में नहीं रही। लगता है कि सब चुक गया है और मैं निचुड़े नीबू की तरह बाहर फेंक दिया गया हूँ, जिसका कोई प्रयोजन नहीं है, जिसका कोई उपयोग नहीं है। निष्प्रयोजन भागते रहने का क्या अर्थ होता है, समझ में नहीं आता। और भागना भी किससे?—अपने से!—जीवन से! जीवन से भागकर आदमी कहाँ जायगा? सामने क्या मृत्यु नहीं है? मृत्यु है, तो हो, मैं उसी में भागूँगा।....लेकिन निरुपमा, देखता हूँ कि सारी शक्ति चुक गयी है। मैं कहीं भी नहीं भाग सकता—न मृत्यु में, न जीवन में। यह कैसी दुर्वह स्थिति है, मैं नहीं बतला सकता। बस झेल रहा हूँ। देश के लिए, समाज के लिए कुछ करने की प्रवृत्ति

सब बुझ गयी है। चैतन्य जड़ क्या होता है, शायद तुम नहीं जानती। सम्पूर्ण जीवन को लकवा मार जाय, तब तो यही न होगा कि जीवन जड़ हो जायगा। चेतना रहेगी, लेकिन जीवन नहीं रहेगा। बस, यही जीवन लेकर जी रहा हूँ।"

राजन की बातें मैं अतिशय विमनस्कता से सुनती रही। जीवन में चेतना होती है कि नहीं होती है, या बिना जीवन की चेतना क्या होती है, इसे जान लेने और समझ रखने का कोई आग्रह मुझमें नहीं था। लेकिन राजन कहते-कहते एकाएक चुप हो गया, तो मैंने उसकी ओर देखा और तब लगा कि यह राजन अभी अपने अन्तर्मन की व्यथा कह रहा था, कि वह जीवन से हार चुका है—थक चुका है। ऐसा थक चुका है कि उसमें अब एक कदम भी चलने की शक्ति नहीं रह गयी है कि वह मृत्यु में भी जा सके। तब क्या यह राजन जो आज यहाँ आ गया है, वह इसलिए आया है कि मैं उसे शक्ति दूँ, कि वह *जीवन की ओर भागे ? कि मृत्यु में अपने को भगा ले जा सके ?*

राजन की निगाह मुझमें अँटकी थी। ये आँखें अत्यन्त ही अनुनीत थीं। एक पल, दो पल, तीन पल, इस बीच पलकें थमी रहीं और वाक् बन्धे रहे।

नीचे से दरवाजा खुलने की आवाज आयी।

राजन की दृष्टि में परिवर्तन हुआ। निगाहें तेज हुईं, व्यग्र हुईं और जैसे आसन्न संकट के आभास से आतंकित हुईं। वह एकाएक कुर्सी से उठ खड़ा हुआ—बेचैन, सनद्ध उन निगाहों को मैंने देखा। वे पूछ रही थीं कि नीचे जो स्वर अभी सुनाई पड़ा है, वह क्या है, उसमें भय तो कहीं नहीं है न ?

मैंने कहा—"सीबू (नौकर) होगा !"

"सीबू !" राजन की बँधी साँस ही सिर्फ बाहर हुई। शब्द स्पष्ट नहीं हुआ। लेकिन वह कुछ आश्वस्त हुआ। वैसे ही खड़े खड़े उसने कहा—"देखो, कौन है !"

मैं चुपचाप नीचे चली। सीबू ही था। भीड़ की वजह से टिकट नहीं मिल सका था और वह सिनेमा से वापस लौट आया था।

नौकर और रसोइया दोनों बाहर ही एक कोठरी में सोते थे। वह बाहर वाली कोठरी भीतर भी खुलती थी। बिना सामने का दरवाजा खोले इस कोठरी की राह भी लोग अन्दर आ सकते थे। सीबू ने मुझे देखकर पूछा—"कुछ चाहिए क्या?"

"नहीं। देखने आयी थी कि दरवाजा किसने खोला।" और मैं वापस ऊपर लौट गयी। ऊपर आयी तो देखा, द्वार पर राजन खड़ा है—तीक्ष्ण और दुर्द्धर्ष, कि सभी तरह का मुकाबला करने के लिए तैयार है। दोनों हाथ चेस्टर की जेब में पड़े थे और वह चौकन्ना-सा प्रत्येक खटके की ओर सचेत था! मैंने कहा—"सीबू लौट आया है।"

राजन भीतर कमरे में लौट गया। कई क्षणों तक बीच कमरे में अनिश्चित-सा खड़ा रहा। फिर बोला—"मुझे आराम की जरूरत है। मैं एकान्त चाहता हूँ, जहाँ कोई डिस्टर्ब न करे।"

राजन का आज का आचरण मेरी समझ में नहीं आ रहा था। ऐसा भीत-सा मैंने उसे कभी नहीं देखा था। मैंने खाट पर से बिस्तर उठा लिया और पुष्पा के सोनेवाले कमरे के बगल में की एक कोठरी में राजन के लिए बिस्तर लगा दिया। आकर कहा—"चलो!"

राजन ने उस छोटे टेबुल पर पड़ी अटैची को देखा—"इसे यहीं छोड़ दूँ?"

"जैसा सोचो—"

सो राजन ने क्षण-भर सोचा और फिर अटैची को उठा लिया। कमरे से जब मैं बाहर आयी, तो उसने टोका—"सुनो निरुपमा, नहीं तो—" और वह ठमक गया। तब बोला—"नहीं तो तुम इसे अपने ही कमरे में रहने दो।" और वह पत्रसा कमरे में मुड़ गया।

मैं बाहर प्रतीक्षा में खड़ी रही कि वह अटैची रखकर आयगा, कि उसने पुकारा—"सुनना तो !"

मैं अन्दर गयी। उसने कहा—"न जाने कब मुझे यहाँ से चला जाना पड़े। यह अटैची तुम कुमार को दे देना !"

अटैची रखकर राजन मेरे साथ लगा उस कमरे में चला आया, जहाँ उसके लिए बिस्तर लगा दिया गया था। उसने भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया।

मैं अपने कमरे में आकर बिस्तरे पर पड़ गयी और चाहने लगी कि नींद आ जाय। लेकिन नींद न जाने किस अदृष्ट से जा बन्धी, और मन में ऐसी-वैसी बातें उघरने लगीं। यह राजन आज स्वयं अपने अस्तित्व के साथ इतना संश्लिष्ट क्यों बना है ? आज जैसा वह दीख रहा है, उसमें सामान्य सहजता का जैसे अभाव आ भरा है। उसके भीतर अस्वाभाविक कुछ आ पड़ा है, जो उसे एक साथ ही बन्द किये है और व्यग्र भी किये है और वह द्विधा से उबर नहीं पा रहा है।....यहाँ किसके जी में गाँठ नहीं है ? सभी के जी में है—कुमार, पुष्पा, शैल, सभी के। लगता है कि सभी अपने भीतर भेद पाल रहे हैं। क्या यह एकदम से दुर्ज्ञेय रहने की बात-जैसी ही है ? मन की यह गाँठ ही क्या सम्पूर्ण जीवन को व्यथाभिभूत नहीं कर रही है ? जो कुछ प्राप्त है, उसमें अभाव की अतृप्ति है। प्राप्त, जो मन को किसी भी भाँति स्वीकार्य नहीं है, उसे स्वीकार कैसे किया जाय, अथवा जो प्राप्त है, उसे स्वीकार नहीं किया जाय, तो क्या किया जाय, सब की आत्मा ऐसी ही द्विधा में बँटी है। अपने भीतर कुछ लेकर, कुछ बान्धकर सभी उबरना चाहते हैं। लेकिन खुंडी बन्धी है, और सभी धुरी-उच्छिन्न पुच्छल-से दिशा-हीन, गति-हीन हो रहे हैं—कट रहे हैं और काट रहे हैं।

कुमार जैसा हैं, मुझे स्वीकार हैं। उन्हें अस्वीकार किया भी तो नहीं जा सकता ! क्या पति हैं, इसलिए ? नहीं-नहीं ! उनके भीतर जो दुर्गम है, दुर्ज्ञेय है, उसी की प्राप्ति में, या यों कहिए कि उसी के चरण-तल में बिछ जाने के लिए मेरी आत्मा गलकर बह आना चाहती है, कि ओरे दुर्बोध ! मैं पवित्र-अपवित्र जैसी भी हूँ, तुम्हारी हूँ, मुझे स्वीकार लो ! और अपने में आने दो, इस तरह दुर्गम न रहो, दुर्ज्ञेय न रहो। मैं जानती हूँ, तुम चट्टान नहीं हो, इसी से तुम पर सिर मार रही हूँ। एक दिन मेरे सिर की चोट से तेरी द्विधा शतधा होगी—विचूर्ण होगी। तुम टूटोगे, तरल बनोगे। तब तुम्हारी उस अगाध तरलता में मैं सब दिन के लिए अपने को डुबा दूँगी—ओरे दुर्भेद्य ! ओरे !! ओरे !!!....

तभी सुना, राजन दरवाजे पर खड़ा आहिस्ता-आहिस्ता पुकार रहा है—"निरुपमा !—निरुपमा !"

मैंने दरवाजा खोल दिया। राजन अन्दर चला आया। मैंने पूछा—"क्या है ?"

राजन ने कुछ कहा नहीं। उसने धीरे से अपना सिर उठाया और मुझे देखा। उन आँखों में थकान थी, पीड़ा थी, व्यग्रता थी। वह आकर कुर्सी में बैठ गया। बैठा-बैठा वह हाथ का सिगरेट चुपचाप पीता रहा और धुएँ को देखता रहा।

मैंने पूछा—"तुम सोये नहीं ?"

राजन ने स्वर सुना, लेकिन शब्द शायद उसके भीतर नहीं पहुँचे। उसी भाव से उसने सिर घुमाकर मेरी ओर देखा और अँटका रहा कि वह इसी तरह देखता ही रहेगा।

मैंने टोका—"क्या देख रहे हो ?"

"तुम्हें देख रहा हूँ।—तुम्हें नहीं देख रहा हूँ क्या ?" और राजन कातर हो उठा।

"क्या देख रहे हो मेरा ?"

"रूप।"

"रूप ?" मेरे भीतर वितृष्णा-सी जगी।

"हाँ, रूप। देख रहा हूँ कि यहाँ ही मैंने सब पाया है और सब खोया है।"

मेरे मन में आया कि राजन से कह दूँ कि राजन, मेरा जी अच्छा नहीं है। भगवान के लिए इस कमरे से चले जाओ। लेकिन वह सब नहीं कहा। हुआ यह कि मैं उसी भाव को लिये-लिये अपने पलंग पर आकर बैठ गयी। पूछा—"कहाँ सब पाया है, और खोया है ?"

राजन अँटका-अँटका मुझे देखता रहा।

"मुझ में सब कुछ खोया है ? मेरे लिए ही सब खो रहे हो और भटक रहे हो ?"

"नीरू—"

"बोलो, कहो न !"

"एक दिन तुम्हारे सामने इन बातों का जवाब देना पड़ेगा, यह नहीं जानता था !"

मेरे भीतर कुछ टूटा, ढहा—"राजन...."

राजन वैसा ही भावाविष्ट मेरी ओर देखता रहा।

मैंने कहा—"अपने को व्यर्थ भटकाने से क्या लाभ है ? परिस्थितियों से समझौता कर चलना ही क्या ज्यादा अच्छा नहीं है ?"

"मैं नहीं मानता समझौता !" राजन कुछ प्रखर हुआ—"समझौते को मैं कमजोरी मानता हूँ। इसलिए कभी समझौताकर नहीं चला हूँ।"

"समझौताकर नहीं चलोगे, तो रगड़ होगी। और रगड़ में आदमी ही घिसता है और घिस-घिस कर मिट जाता है।"

"नहीं-नहीं, निरुपमा ! रगड़कर आदमी चमकता है। थोड़ा घिसता जरूर है, लेकिन पैना होता है, कि वह परिस्थितियों को काट सके।"

"तुम पुरुष हो, जो आयगा, उसे काट लोगे। लेकिन नारियाँ भी क्या उसी धातु की बनी हैं? वे तो सिर्फ कटने के लिए हैं। इसलिए भटकना व्यर्थ है। और जो सब-कुछ को व्यर्थ मानकर किसी विजन में, गहन में जा बैठी है, उसके लिए भटकना भी क्या अर्थ रखता है?....काल तो निरपेक्ष होता है। वह गुजरता है और आगे निकलता चला जाता है। पीछे नहीं लौटता। नदी, जो अपने पीछे पहाड़ी, घाटी, मैदान, कूल, कगारों को छोड़कर बहती-बहती सागर में जा मिली है, उसके मन में तो, जो पीछे छूट गया है, उसकी स्मृतियाँ-भर हैं। लेकिन क्या वह इन्हें पाने के लिए पीछे लौट सकती है? नहीं लौट सकती है। लौटना अस्वाभाविक है।"

राजन तत्पर-सा उठ खड़ा हुआ—"अस्वाभाविक कुछ नहीं है। सब लौट सकता है—समय भी लौट सकता है और नदी भी लौट सकती है। तुम एक बार चाहो, मेरा साथ दो तो—" और उसने मेरा हाथ अपने पंजे में लेकर कहा—"आओ!"

राजन का उस प्रकार मेरा हाथ पकड़ लेना मुझे अच्छा नहीं लगा और मुझ में अश्रद्धा भर आयी। उसने खींचकर मुझे बीच कमरे में ला खड़ा किया। फिर दरवाजे को भीतर से बन्द कर दिया। अपने पास से अटैची की चाभी निकाली और उसे खोला—"देखो नीरू, यह सब मैंने किया है। यह सब मेरा है। मेरा इसलिए है कि मेरे पास है। मैंने जान पर खेलकर इसे पाया है।"

मैं विस्मित चकित फटी-फटी आँखों से देखती रह गयी। अटैची में थाक-के-थाक नोट पड़े थे। और उन नोटों के रंगीन कागज पर काला-सा चमकता हुआ एक रिवाल्वर पड़ा था। वे नोट और वह रिवाल्वर मेरी दृष्टि को बान्धे रहा।

राजन ने धीरे से रिवाल्वर उठा लिया। रिवाल्वर से बन्धी मेरी दृष्टि भी ऊपर उठी और विस्मय-चमत्कृत बनी राजन के आनन पर

अँटक गयी। एक साथ ही राजन दुर्गम दुर्बोध हो उठा। उसने कहा—"अस्सी हजार हैं। इन्हें मैंने इसके बल से प्राप्त किया है।" और उसने अपने हाथ का रिवाल्वार मेरी ओर किया।

मैं आतंक, विस्मय और जिज्ञासा में भरी खड़ी देखती रही। उसने रिवाल्वर को जैसा-का-तैसा अटैची में रख दिया। बोला—"यह छोटी-सी चीज बेजान तो है, लेकिन कितनों की जान ले चुकी है। बस, जरा-सा ट्रिगर दबाया और हँसता-बोलता आदमी लोट जाता है।....अस्सी हजार क्या थोड़े होते हैं निरुपमा? नहीं, थोड़े नहीं होते। इसके बल पर भावी जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। इस अस्सी हजार के लिए चार आदमियों की हत्या की गयी है। वे चार आदमी, जो मारे गये हैं, ये रुपये उनके नहीं हैं। वे तो रक्षक थे। जिनके यहाँ से ये रुपये आये हैं, उनके यहाँ बेकार पड़े थे। रुपयों को बेकार नहीं रहना चाहिए, काम में लगना चाहिए। इसलिए अनुपयुक्त स्थान से उठाकर इन्हें उपयुक्त स्थान में ले जाने के लिए लाया गया है। मैं ठीक नहीं जानता कि मेरा यह काम कहाँ तक उपयुक्त है। तुम कहोगी—यह डाका है, चोरी है, अपराध है। ठीक है कि अपराध है। लेकिन यह अपराध करने का दुस्साहस कोई क्यों करता है?"

राजन मूड में था। धारा-प्रवाह बोलता जा रहा था—"पूँजी कैसे बनती है, यह तुम्हें पढ़ाना नहीं है। संग्रह तो तभी होगा, जब दूसरों के भाग का अपहरण होगा। अपहृत धन का ही यह अपहरण हुआ है। उसने दूसरों का छीना था, मैंने उसका छीन लिया। इस प्रकार समस्या का अन्त नहीं होगा, यह मैं जानता हूँ। लेकिन यह तो कदापि अच्छा नहीं है कि धन एक जगह रुककर बेकार पड़ा रहे और देश के असंख्य लोग अभाव-ग्रस्त जीवन व्यतीत करें। जहाँ भरा है, वहाँ से रिक्त की ओर जाना जरूरी है।"

राजन रुककर मेरी ओर देखता रहा। फिर बोला—"निरुपमा, मैं चिर अभाव-ग्रस्त रहा हूँ। अभाव और उसकी पूर्ति की अक्षमता ही अपराध को जन्म देती है। आज देश में इस तरह के अपराध दुर्निवार गति से बढ़ रहे हैं। जो अभाव ग्रस्त हैं, उनकी नजर वहाँ जरूर दौड़ेगी, जहाँ भरा है। तुम इसे अपराध मानती हो, तो मानो। करोड़ों लोग इस कार्य को अपराध मानते हैं। उन करोड़ों में से तुम भी एक हो। लेकिन अर्थ-तन्त्र की जो वर्तमात स्थिति है, उसमें इस तरह का अपराध जनमेगा ही। आर्थिक विषमता है, इसलिए क्षोभ है। क्षोभ बुद्धि को असन्तुलित करता है। लूट-पाट, हत्याएँ, ये अविवेक-वश होती हैं। परन्तु इसे भी तुम विवेक नहीं कहोगी कि कोई हजारों लाखों व्यक्तियों का भाग दबा-दबाकर संग्रह करता चला जाय।"

मेरा जी हो रहा था कि जोर से चीख उठूँ। यह कैसा तर्क है जी ? जो रिक्त है, उसे भरने के लिए रिवाल्वर लेकर घूमोगे, तो ऐसे में किसका-किसका भरेगा ? दस को भरने के लिए दस का अन्त करोगे, इससे भरेगा कि उजड़ेगा ? ऐसे तो अपराध और आतंक का का ही जन्म होगा। क्रान्ति क्या सचमुच ही खून चाहती है ? नहीं ! भारत की भूमि ने तो दिखला दिया है कि यह क्रान्ति मनुष्य के जीवन की पुकार है, जिस पुकार की अवहेलना नहीं होती। इस पुकार को घृणा और द्वेष से भर दोगे, तो हिंस्र भावनाएँ बढ़ेंगी, खून होगा। जीवन की पुकार मन की सद्वृत्तियों से उठेगी, तो मन संकुचित घेरे में नहीं रहेगा, भावनाएँ उदात्त होंगी, दायरा विस्तृत होगा। घृणा और द्वेष उसी विस्तृति में अवकाश की तरह मिल जायँगे। क्या ऐसे ही आर्थिक क्रान्ति सम्भव नहीं है ? मन में ये ही बातें उठती रहीं। लेकिन मुँह से निकला—राजन !"

राजन ने कहा—"बोलो !"

मैं विरक्त भाव से बोली—"क्या बोलूँ ! नहीं जानती थी कि एक दिन तुम रुपयों के लिए डाका भी डालोगे और हत्या करोगे। और उस अपराध को अपराध नहीं गिनने के लिए तर्क भी दोगे।"

राजन कुछ बुझा-सा बोला—"नहीं, जो अपराध है, उसे मैं अपराध मानता हूँ। लेकिन तुम भी यह स्वीकार करोगी कि अपराध करने की स्थिति होती है, और उसके लिए आदमी मजबूर हो जाता है।" कहकर राजन कई क्षणों तक न जाने किस भाव से मेरी ओर देखता रहा। फिर जैसे मन में कोई निश्चय बन्ध आया हो, वैसे ही स्वर में बोला—"ये रुपये मैंने दुस्साहस से प्राप्त किये हैं। ये मेरे हैं, मैं चाहे जिसे दे दूँ। इसी से—इसी से कहता हूँ नीरू, कि समय लौट सकता है—नदी लौट सकती है। यह सोचकर मैं तुम्हारे पास आया हूँ।"

वह रुका मेरी ओर उन्मुख देखता रहा कि मैं क्या कहती हूँ। तब बोला—"क्या कहती हो ? मेरे साथ चलने के लिए तैयार हो ?"

मैंने दृढ़ता के साथ अस्वीकार किया—"नहीं।....तुम गलती पर हो राजन ! अपनी चीजों को लेकर यहाँ से चले जाओ।"

राजन परास्त, श्रीहत भाव से मेरी ओर देखता रहा।

मैंने कहा—"जो मुझे प्राप्त है, उसी को लेकर मुझे रहने दो। अगाध की ओर मुझे नहीं घसीटो। अभाव मुझे मिला है, तो मैं उसे भोग लूँगी। तुम जाओ ! इस तरह बार-बार आकर मुझे न घेरो। मेरा तुम्हारा जो पहला सम्बन्ध था, वह मेरी दुर्बलता था। शरीर की भूख के आगे, वासना की क्षणिक तृप्ति के आगे अपने को समर्पित कर मैंने सब विनष्ट कर दिया। उसका प्रायश्चित मुझे कर लेने दो !'

"नीरू—" राजन का स्वर बहुत अवश और आविष्ट हो उठा।

तभी बाहर पति का स्वर सुनाई पड़ा—"नीरू !"

मैं चौंकी। कई क्षणों तक मेरी समझ में नहीं आया कि क्या करूँ। विमूढ़ खड़ी-खड़ी राजन की ओर देखती रही। राजन ने दरवाजा खोल दिया। पति ने पहले मुझे देखा और फिर राजन को, और जैसे आये थे, वैसे ही वापस लौट गये।

मैंने राजन को लक्ष्यकर कहा—"तुम इसी के लिए यहाँ आये थे?"

राजन सिर लटकाये चुपचाप बाहर चला गया। मैंने झपाटे के साथ अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर लिया।

मन में दुर्निवार-जैसी एक बात उठ रही थी, जो पानी पर तेल की रंग-बिरंगी रेखाओं-जैसी अस्पष्ट तिर रही थी। लगा कि कमरे की दीवारें चारों ओर से सिमट कर आपस में मिलने के लिए बढ़ी आ रही हैं। हवा संकुचित हो रही थी और घनिष्ठ हो रही थी, और वह साँसों में आ नहीं रही थी। मैंने खींच-खींचकर कई बार साँस ली, लेकिन भीतर जैसे कुछ प्रवेश नहीं कर सका, रिक्त ही रहा। तब मैं बहुत बेचैन होकर अटैची तक आयी। उसमें रिवाल्वर जैसे-का-तैसा पड़ा था। हाथों में उसे उठा लिया। वह शीतल था, जैसे रेफ्रिजेटर में पड़ा हो। उलटकर देखा। ट्रिगर को छूआ। फिर हौले से दबा-कर अन्दाज लगाया कि ट्रिगर को कितने दबाव की जरूरत पड़ती होगी। फिर मैंने उस रिवाल्वर की ठण्ढी नली को अपनी कनपट्टी पर रखा और अदृष्ट में खड़ी न जाने किसकी मूर्ति से मैं पूछ उठी—'ट्रिगर दबा दूँ?'

अदृष्ट में खड़ी वह मूर्ति हिली—'नीरू—'

मैं बोली—'नहीं-नहीं, मैं मरना नहीं चाहती। लेकिन तुम एक बार कहो, तो दबा दूँ ट्रिगर और सब खतम कर दूँ। तब द्विधा कहीं नहीं रहेगी, संताप कहीं नहीं रहेगा। बोलो, दबा दूँ ट्रिगर?' और ट्रिगर पर मेरी उँगलियों का दबाव पड़ा।

तभी दूर अन्तरिक्ष में कोई चीखा—'निरुपमा!' और वह चीख चारों ओर गूँज उठी और घाटी की आवाज की तरह गूँजती रही।

मैं अपने दोनों कान बन्दकर बिस्तरे पर आ गिरी—'कौन हो तुम ? जो मेरे जीवन को इस तरह करुणा और व्यथा से भर रहे हो ? मुझे जाने दो, रोको नहीं ! रोको नहीं !'

और तब भीतर अज्ञात-सा कुछ दुख में फूट-फूटकर आँखों की राह बाहर आने लगा। और मैं हाथों में रिवाल्वर लिये उसी प्रकार बेहोश आँसू बहाती रही।....

आधे घंटे बाद मैं नीचे उतरी। देखा पुष्पा के ड्राइंग रूम में रोशनी जल रही है। सीधे बढ़ती मैं उधर ही चली गयी। बाहर से ही देखा, पति सोफा में लेटे हैं और सिर को सोफा की पीठ से अँटकाये छत की ओर देख रहे हैं। वहाँ पाँवों में पुष्पा बैठी है, जैसे अब चरणों में बिछ जायगी। एक हाथ धरती पर टिका है और तलहथी के सहारे बैठी वह न जाने किस सोच में डूबी है और धरती को देख रही है।....ठहरिए ! देख नहीं रही है, उन झुकी पलकों की राह आँसू ही बह-बहकर बहे चले आ रहे हैं और चू रहे हैं—टप—टप। और पति ही क्या छत देख रहे हैं ? नहीं, छत की ओर तो सिर्फ आँखें खुली हैं, लेकिन उन आँखों में व्यथा तरल—अति ही तरल होकर उभर रही है और उमर रही है। आकृति पर जैसे जीवन का संताप मूर्तिमान हो उठा है।

यह कुमार कैसे हो रहे हैं ! इतना निरीह, दीन, कातर और संतप्त तो मैंने इन्हें कभी नहीं देखा था। क्या उनकी इस परास्ति के मूल में मैं ही नहीं हूँ ? हूँ तो, इस मूल को किस प्रकार खोदकर फेंक दूँ और इन्हें उबार लूँ ?

मैं वापस अपने कमरे में लौट आयी। वहाँ पलंग पर रिवाल्वर पड़ा था। एक ओर अटैची रखी थी। दोनों को उठाया और राजन के

कमरे की ओर आयी। देखा, दरवाजा भरपूर खुला है और भीतर रोशनी जल रही है। उस रोशनी के नीचे उस कमरे का वातावरण दबा-दबा-सा है और दम साधे है। पलंग के एक ओर जमीन पर पाँव टेके राजन बैठा था। दायें हाथ की केहुनी जाँघ पर टिकी थी और ठुड्डी हथेली पर। जैसे वह चारों ओर से परास्त होकर आ बैठा हो और इस निखिल विश्व के एकान्त को व्यक्त कर रहा हो। वातावरण की उस दुर्लंघ्य शून्यता में वह जैसे स्वयं अपने आप में एक प्रश्न हो, जिसका कोई उत्तर ढूँढ़े नहीं मिल रहा हो और इस प्रकार दिग्-दिगन्त से व्यर्थ लौट आकर अपने से ही पूछ रहा हो कि अरे मूढ़! तू व्यर्थ क्यों है ? और व्यर्थ है, तो फिर शेष रहने का अर्थ क्या है ?

मैंने अटैची लाकर उसके सामने रख दी। रिवाल्वर मेरे हाथ में रखी रही। धीरे से पलकें उठाकर राजन ने मेरी ओर देखा और गुम-सुम मेरी ओर देखता रहा।

मैंने कहा—"अपनी अटैची और रिवाल्वर लो और यहाँ से चले जाओ !"

मेरा स्वर क्या कातर था ? क्यों कातर था ?

जैसे राजन ने कुछ सुना नहीं, उसी तरह बुझा-बुझा अन्धेरा मुझ में दृष्टि बान्धे रहा।

"सुनते नहीं हो ? जाओ !"

और बिना कुछ बोले राजन उठ खड़ा हुआ, कि चला जायगा।

जाते-जाते उसने रुककर मुझे देखा। कहा—"अटैची मेरी नहीं है। रिवाल्वर मेरा है। वह मुझे दे दो।" और उसने रिवाल्वर लेने के लिए मेरी ओर हाथ बढ़ाया।

रिवाल्वर पा लेने के आग्रह में उसका हाथ मेरी ओर बढ़कर खुला रहा। मैंने अनुनीत होकर कहा—"मुझे एक वचन दो कि भविष्य में हमारे बीच तुम कभी नहीं आओगे !....बोलो, नहीं आओगे न ?"

"मैं वचन किसी बात का नहीं देता। लाओ, रिवाल्वर दो!"

"नहीं वचन दोगे, तो लो, मेरा ही अन्त कर दो!" और मैंने उसकी फैली खुली तलहथी पर रिवाल्वर रख दिया।

रिवाल्वर को नली की तरफ से थामकर राजन ने उसे अपनी मुट्ठी में भरपूर दबाया, जैसे उसकी सम्पूर्ण चेतना जाग्रत हो उठी हो और कठोर हो आयी हो। उसने स्थिर स्वर में पूछा—"तुम अन्त चाहती हो निरुपमा?"

"हाँ, अन्त चाहती हूँ।"

"सोच लो, मेरे हाथ में रिवाल्वर है। यह एक सेकेंड में किसी का भी अन्त कर सकता है—तुम्हारा, मेरा। बोलो, क्या चाहती हो?"

मैं अपने भीतर सिहरी—"मुझ में तुम्हें झेलने की शक्ति नहीं है राजन! मैं बुझना चाहती हूँ। अन्त चाहती हूँ। लो, मार दो।" और मैं आँखें बन्दकर सनद्ध खड़ी हो गयी।

कि द्वार पर पति का गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा—"राजन!"

पति इस प्रकार एकाएक यहाँ आ आविर्भूत होंगे, यह नहीं सोचा था। न जाने कैसा अपरिज्ञेय स्वप्निल भाव, जो मेरी चेतना को ग्रसे था, उसकी संकुलता में पति की वाणी ने आघात किया। मैंने आँखें खोलकर देखा—पति धीर चरणों से राजन के निकट चले आये। बोले—"वह मुझे दो!" और राजन के हाथ का रिवाल्वर लेने के लिए उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया—"जिसमें आत्मबल नहीं है, उसके हाथों में जाकर शस्त्र अर्थ का साधन नहीं बनता, अनर्थ का उपादान बन जाता है। लाओ, मुझे दो!"

राजन कई क्षणों तक कुमार की ओर देखता रहा। फिर उसने धीरे से रिवाल्वर का बैरेल खोला और चैम्बर से कारतूस निकालकर अपने चेस्टर की जेब में डाल लिया। पति उसी दृढ़ भाव से खड़े रहे—"उसे जेब में मत रखो, मुझे दो!"

"नहीं, यह मेरा है, मैं इसे किसी को नहीं दे सकता।"

"तुम्हारा है, इसी से तो कहता हूँ कि मुझे दो।"

"नहीं।" राजन जैसे भीतर से तना था।

"बचपना नहीं करो राजन !"

"बचपना ?–हुँ: !" राजन जैसे सारी दुनिया को तुच्छ मानता है—कुमार को, मुझे, अपने को। वह चलने को हुआ।

पति ने पूछा—"तुम जाओगे ?"

"हाँ !"

"कहाँ जाओगे ?"

"बतलाने के लिए मजबूर करोगे ?" राजन के स्वर-यन्त्र के तनाव मे थोड़ी और कस आयी। लेकिन राजन जितना तना, कुमार उतने ही ढीले हो आये—"नहीं, मजबूर नहीं करूँगा। यहाँ तुम्हें रोकना अच्छा नहीं है। पुलिस तुम्हारे पीछे है। न जाने कब क्या हो।"

"तुम मुझे डराना चाहते हो ?"

कुमार विनीत होकर बोले—"मेरे डराने से डरोगे, रुकोगे; ऐसी बात होती, तो मैं तुम्हें उधर बढ़ने नहीं देता, जिधर बढ़कर आज चले गये हो। जिधर तुम बढ़े हो, उधर किसी का मंगल नहीं है, किसी का कल्याण नहीं है—न देश का, न स्वयं तुम्हारा ही।"

कुमार कुछ और बोलते। लेकिन बीच में ही राजन बोल उठा—"मैं किसी का नहीं हूँ कुमार—न देश का, न अपने-पराये का, न स्वयं अपना। कोई किसी का नहीं होता। सभी मृत्यु के होते हैं। यही मात्र सत्य है। मुझे जाने दो !"

कुमार पीछे की तरफ चलकर द्वार पर आकर खड़े हो गये थे, जैसे कि राह रोककर खड़े हों। बोले—"तो क्या तुम उसी मृत्यु में जा रहे हो ?"

"मृत्यु से मैं नहीं डरता।"

"सो तो देख रहा हूँ कि मृत्यु से नहीं डरते हो। लेकिन मृत्यु से नहीं डरना और बात है और मृत्यु की ओर बढ़ना और बात। जीवन से हारा हुआ पथिक ही मृत्यु की ओर बढ़ता है। जीवन के आगे हारने का ही दूसरा नाम मृत्यु है। क्या यह मृत्यु अच्छी है?....तो जीवन के लिए यह भाग-दौड़ क्यों है? अगर जगत को मृत्यु की ओर ही उन्मुख करोगे, तो यह सृष्टि किस किनारे लगेगी?" कुमार के ओठों की मुस्कान जैसे उस वातावरण की गम्भीरता को छूने से डरती हो, इसलिए ओठों पर आ-आकर लौट जाती थी।

कुमार की बातों से वातावरण में जो एक विमनस्क सघनता छा गयी थी, उसे काटते हुए राजन बोला—"मुझे जाने दो कुमार! मैं तुम्हारा दार्शनिक प्रवचन सुनने की स्थिति में नहीं हूँ। मुसाफिर की थकान देखकर मंजिल नजदीक नहीं आती। मंजिल तक पहुँचने के लिए कितनों को रास्ते में ही टूट जाना पड़ता है, अपने-पराये से छूट जाना पड़ता है। मुझे भी एक ऐसा ही मुसाफिर समझो। मेरा रास्ता छोड़ दो!"

कुमार बोले—"तुम्हारा रास्ता रोककर खड़ा रहूँ, इतना बल मुझमें नहीं है। तुम्हारा रास्ता रोक सकता, तो उसी दिन सामने आकर खड़ा हो जाता, जिस दिन तुम कॉलेज के चन्द विपथ नौजवानों को लेकर अपना दल गठित करने लगे थे। लेकिन जानता था, प्रवाह रोका नहीं जा सकता। रुकेगा, तो पानी सड़ेगा और वातावरण को गन्दा करेगा। इसलिए तुम्हें कभी नहीं रोका। तुम सदा यही समझते रहे कि कुमार दल का सब कुछ बना है। ईर्ष्या तुम्हारे भीतर यहीं पर थी। लेकिन दल पर मेरी आस्था कभी नहीं रही है। दल आदमी को बाँटता है और दायरे में डालता है। यों भारत में दलों की कमी है कि और दल बनाया जाय? दल का

गठन तो उद्देश्य-सिद्धि के नाम पर किया जाता है। फिर संसार में जो इतने दल हैं, उनका क्या उद्देश्य है? जन-कल्याण ही न? मानवता की रक्षा ही न? लेकिन मानव-कल्याण के लिए दल बनाकर मानवों से लड़ना पड़े, तो इसे क्या कहा जायगा? डाकुओं का दल, लुटेरों का दल समझ में आता है, क्योंकि स्वार्थ-सिद्धि के लिए चन्द अर्थ-लोलुपों का यह संघटन है। लेकिन मानव-कल्याण तो सबों का धर्म है। फिर इतने दलों का जो संघटन हुआ है और जो हो रहा है, उनका क्या अर्थ है? दल है, इसलिए बीच में संघर्ष भी है। और बीच में यह संघर्ष आता है, तो दल के योद्धाओं के लिए संघर्ष ही प्रधान रहता है। कल्याण की बात कोई नहीं सोचता। इसलिए निर्दल होना पड़ेगा और मानवता का धर्म अपनाना होगा।"

राजन उत्कट होकर बोला—"तुम्हारी बातें सुनने का धीरज मुझमें नहीं है कुमार! तुम्हारे तर्क और तुम्हारे सपने मूर्खों के हैं। तुम से किसी का कुछ नहीं सधेगा। एक दिन देखोगे कि तुम सारी दुनिया से अलग होकर, एक किनारे अपने सपनों के खंडहर पर खड़े हो। आज के राजनीति-चेताओं की व्यक्तिगत उलझनों में भारत की आर्थिक स्थिति जिस विषम गति से उलझती जा रही है, उसमें न जाने कितने कुमार राजन बनेंगे। आर्थिक-संकोचन के कारण उत्पन्न व्यक्तिगत कुंठाएँ विद्रोह बनकर फूटेंगी। लूट, हत्या, बेइमानी और अन्य अपराध बढ़ेंगे। अभी की स्थिति क्या है? आदमी अनैतिक होकर गिरता चला जा रहा है। देश में जब ऐसी अराजकता उत्पन्न होती है, तो कोई भी शासन-सत्ता उसके सामने नहीं टिकती।"

कुमार बोले—"ठीक है, जाओ! रिवाल्वर मुझे दे दो!"

राजन—"कह दिया, नहीं दूँगा।"

कुमार—"दे देना ही अच्छा है।"

राजन किंचित सशंक और सनद्ध होता हुआ बोला—"क्या माने ? नहीं दूँगा, तो छीन लोगे ?"

कुमार बोले—"छीनने से ही क्या तुम निरस्त्र हो जाओगे ? सारी दुनिया में बस यही रिवाल्वर तो एक नहीं है ? जिघिंसा रहेगी, तो एक के छीनने से क्या ?—सौ आयँगे, हजार तैयार होंगे। निरस्त्र तो मन से होना होगा, तभी हिंसा मिटेगी। नहीं देना चाहते हो, तो जाओ !" और वह दरवाजे से हटकर एक ओर खड़े हो गये।

राजन क्षण-भर अनिश्चय की स्थिति में रुका रहा। फिर सीढ़ियाँ उतरकर चला गया।

पति ने अब आकर मेरी ओर देखा। भरपूर देखते रहे। और भीतर अन्तर जो प्राण-वायु से रिक्त हो आया था, उसमें श्वास भरा और फिर मुक्त कर दिया, जैसे सब मुक्त हो आया हो, निर्बन्ध—निरण्य और साथ ही निर्लिप्त—निरर्थ। वह सिर झुकाये कमरे से बाहर चले गये और धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरने लगे।

शान्त सरोवर में गिरा हुआ पत्थर जल में संक्षोभ उत्पन्न करता है, लहरों का आवर्त उठाता है—केन्द्र से तट की ओर और तट से केन्द्र की ओर। मैंने जो अपने चारों ओर के वातावरण को थामकर शान्त कर लिया था, राजन आज उसमें पत्थर की तरह आ गिरा था और संक्षोभ उत्पन्न कर चला गया था। मेरे चारों ओर आवर्त्त उठ रहे थे। लेकिन पति जब चले गये, तो उस स्थिति में अपने को एकदम अकेली, एकान्त पाकर मन से पूछ उठी—अब क्या करूँ ?

कमरे में प्रकाश तीव्र होकर झलमला रहा था। मैं हारी-सी पलंग पर आ पड़ी। आज एकबार फिर मुझे अपना अस्तित्व भार लगने लगा। इच्छा नहीं हुई कि उस प्रकाश में मैं अपने को देखूँ, अपने चारों ओर की चीजों को देखूँ। ऐसा जी हो रहा था कि अन्धकार मुझे घेर ले और सम्पूर्ण जीवन उस अन्धकार में इस प्रकार तिरोहित हो जाय कि मैं अगला-पिछला कुछ भी नहीं देख सकूँ।

सामने चमड़े की अटैची पड़ी थी, जिसमें अस्सी हजार रुपये थे। राजन किधर बढ़ता जा रहा है? आर्थिक विषमताएँ सामाजिक वैमनस्य उत्पन्न करती हैं, यह ठीक है। यह भी ठीक है कि व्यक्तिगत कुंठाएँ क्षोभ बनती हैं और अपना निकास चहती हैं। कुंठाओं का निकास नहीं होगा, तो सामाजिक जीवन की बहती निरन्तर धारा के बीच में वे अवरुद्ध पत्थर की तरह रहेंगी। लेकिन निकास का क्या एक यही मार्ग है? इस मार्ग में तो घृणा है, द्वेष है, वैमनस्य है, हिंसा है। हिंसा—रक्त की प्यास, मानवता को कब सुखी रख सकी है! लेकिन सही मार्ग क्या है? मैं नहीं जानती। नहीं जानती हूँ इसलिए कि अन्तर में अभी प्रकाश नहीं जागा है। इसलिए यह बाहर का प्रकाश बुझ जाय, चारों ओर से अन्धकार घेर ले, यही अच्छा!

मैंने उठकर प्रकाश बुझा दिया। उस बुझे प्रकाश में चित्त को शान्ति मिली। सोचा, यह जीवन क्या इसी तरह अशान्त क्षणों को झेलते-झेलते बीत जायगा? यह राजन न जाने क्यों कहाँ से एकाएक पुच्छल की तरह कुमार के पथ-मंडल में आ घुसता है और मेरा बना-बनाया सारा कुछ छिन्न-भिन्न कर चला जाता है। आज उस एकान्त बन्द कमरे में मैं राजन के साथ थी; पति ने क्या सोचा होगा?

पति ने क्या सोचा होगा, इसका कोई स्पष्ट उत्तर मेरे सामने नहीं आया। लेकिन उस चिन्तन में अन्धकार ही घिरता गया। उस अन्धकार में न जाने कितने अनन्त क्षणों तक मैं पड़ी रही। बीच में एक बार फिर आत्महत्या की बात मन में उठी।

कितनी रात गयी होगी, यह ठीक अन्दाज नहीं था। कोई दो बजे होंगे, या फिर तीन भी बजे होंगे। उस अन्धकार में ही टटोलकर मैंने अटैची उठायी। सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आयी। ड्राइङ्ग रूम में अब भी रोशनी जल रही थी। पति सोफा में लेटे थे, और पाँव सामने गोल तिपाई पर फैले थे। कमर तक उनी चादर से ढँका था। वहीं

पर नीचे जमीन में लाल कालीन बिछी थीं, जिसके किनारे पर हरे रंग की लत्तरें कढ़ी थीं और सफेद रंग के फूल बने थे। उसी पर पुष्पा सिकुड़ी-सिमटी लेटी थी। ऐसी लेटी थी कि थककर जरा देर को कमर सीधी करने को लेटी हो और फिर अनचाहे नींद आ गयी हो। और उसे नींद में जानकर किसी ने ऊपर से सावधान हाथों से शाल ओढ़ा दिया हो। इधर-उधर फाइल खुले पड़े थे। पति जिस सोफा पर थे, उसके बचे हिस्से पर एक किताब बीच से खुली छाती के बल लेटी पड़ी थी।

मैं ड्राइंग रूम में आकर द्वार पर ही खड़ी रही। सोचती रही कि ये पंछी जो अभी पंख समेटकर विश्राम ले रहे हैं, इनके विश्राम में क्या व्याघात डालूँ? नहीं-नहीं! तन से, मन से थके ओ पखेरू, सोये रहो!—सोये रहो!

पति ने जरा सिर सीधा किया—"निरुपमा? कहीं जाने को तैयार हो क्या?"

मेरा कंठ भर आया—"आपके चरणों को छोड़कर कहाँ जाऊँगी?"

वह हँसे—"मेरे चरणों में क्या रखा है भाई? ये तो शनिश्चर के चरण हैं। जहाँ जाते हैं, बस नाश—अमंगल! इन चरणों से तो तू खूब परिचित हो चुकी है।"

"परिचित हो चुकी हूँ, इसी से तो छोड़कर कहीं नहीं जा सकती।"

वह बोले—"लेकिन अभी जिस प्रकार लैस होकर निकली हो, यह तो कहीं की तैयारी का ही रंग-ढंग लगता है।" और मुस्कुरा पड़े।

तभी पुष्पा ने करवट ली। पति सोफा में ही जरा उत्तिष्ठ हुए और ओठों पर तर्जनी रखी कि बोलो नहीं। फिर धीरे से वह उठे। उठकर खड़े हुए। देह में चादर लपेट ली। मुझे अपनी बायीं बगल में ले लिया और मेरी पीठ पर से हाथ फैलाकर मेरी बायीं बाँह पकड़ ली। उस पकड़ में सिमट आकर मैं उनके कुक्ष से लगी-लगी, उनके

साथ ड्राइङ्ग रूम से बाहर चली आयी। बाहर आकर मैंने कहा—"यह अटैची राजन की है।"

उन्होंने पूछा—"लेता क्यों नहीं गया?"

मैंने कहा—"बोला—अटैची मेरी नहीं है।"

"उसकी नहीं थी, तो यहाँ ही यह किसकी है, जिसके पास छोड़ गया है?"

"वह मुझे लेने आया था—इन्हीं रुपयों से। इसमें अस्सी हजार रुपये हैं।" मैं बोली।

पति ने मुझे अपने सामने कर लिया और ठमककर उस अन्धकार में ही न जाने क्या मुझमें देखने की चेष्टा में खड़े रहे। मुझमें क्या दिखा, दिखा कि नहीं दिखा, कि वह मेरा हाथ पकड़कर सीढ़ियों के ऊपर ले चले। अपने कमरे में आकर उन्होंने अटैची सामने टेबुल पर रख दी। स्वयं मेरी पलंग पर बैठ गये (उनकी पलंग पर बिस्तर नहीं था। वह मैं राजन के लिए दूसरे कमरे में ले गयी थी) बोले—"राजन न जाने कब तक भटकता रहेगा!"

मैं चुप खड़ी रही। राजन में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी।

उसने कहा—"सौर-मंडल से उच्छिन्न ग्रह की तरह पथ-भ्रष्ट होकर राजन आज घूम रहा है।...नीरू! (उनके स्वर पर मैं उन्मुख हुई और उनकी ओर देखा) तुम क्या यह नहीं मानती कि वह एक तुम्हारे अभाव में ही धुरी-हीन हो उठा है और कोई निश्चित गति नहीं पकड़ रहा है? काश! तुम उसे मिलती!"

मेरा अन्तर द्रवित होता चला आ रहा था। मैं पलंग के पावे के सहारे खड़ी हो गयी—"मैं आपको भी तो मिली हूँ! मिलकर क्या हुआ? आपका क्या बना सकी हूँ? देखती हूँ, आपको मैंने जीवन की धुरी से उच्छिन्न ही किया है। मुझे पाकर क्या आप भटक नहीं गये हैं?"

"ठीक नहीं जानता कि भटका हूँ कि नहीं। लेकिन तुम्हारे आने से मेरे जीवन को गति मिली है। यह गति पाकर मैं दौड़ता रहा हूँ। तुम इसे भटकना कहती हो, तो मैं तुम्हारा विरोध नही करूँगा। पत्नी का विरोधकर पति नाम के प्राणी की कहीं गुंजायश नहीं है।" कहकर उन्होंने मुझे ऐसे देखा कि अपनी तिरछी मुस्कान और कटाक्ष के बीच मुझे काटकर रख देंगे।

और समय होता, मैं कट जाती। अभी कटी नहीं, भींग आयी—"एक बात पूछूँ ?"

वह मुस्कुराते रहे।

मैंने पूछा—"आज जब आपने कमरे में राजन के साथ मुझे बन्द देखा, तो पहला विचार आपके मन में क्या आया ?....जी में ऐसा नहीं हुआ कि इस औरत की देह में आग लगाकर जला दूँ ?"

उनकी स्मिति स्तमित हो आयी। वह मेरी ओर देखते रहे। फिर बोले—"ठीक ऐसा ही भाव तो मेरे मन में नहीं आया; लेकिन जब नीचे गया और पति-पत्नी के सम्बन्ध की गहराई को सोचने लगा, तो मन के भीतर से बार-बार कौंधकर यही आने लगा कि यह निरुपमा कहीं कुछ कर न ले। और तब मैं अधिक अपने को नीचे नहीं रोक सका। ऊपर आया, तो देखा कि उसी मृत्यु को पा लेने की लालसा में तुम आँख बन्द किये खड़ी हो और राजन के हाथ में रिवाल्वर है।"

मैं धन्य हो आयी। और पति के चरणों में आ पड़ी। उनके घुटनों में मुँह छिपाकर फफक उठी।

मेरे अश्रु-सिक्त कपोलों को अपने हाथों के बीच लेकर उन्होंने कहा—"पागल हो जाओगी, पागल ! उठो !" और बाँहों से पकड़कर उठा लिया। अटैची को हाथ में लेकर उन्होंने कहा—"न जाने पुलिस को कब कौन-सी गन्ध मिल जाय और वह यहाँ पहुँच जाय। फिर पुष्पा भी बवाल में फँस जायगी। इसे अन्यत्र हटा देना ही उचित

है। मैं कल सन्ध्या तक लौट आऊँगा।" और वह कमरे से बाहर निकल गये। पीछे-पीछे मैं भी नीचे आयी। उन्होंने पुष्पा को जगाया और कहा—"जाता हूँ।"

पुष्पा अलस आँखों से उन्हें देखती रही।

बाहर का द्वार पति ने खोला। सामने पुलिस के आदमी खड़े थे।

: १७ :

मेरे नाटकीय जीवन का पटाक्षेप तो उसी दिन हो गया; लेकिन मैं रह गयी हूँ कि इस जीवन का शव अगोरकर बैठी रहूँ और अपनी सड़ायँध से बेचैन रहूँ। भवितव्य अनजाने में से आया और मेरा सब कुछ लूटकर ले गया। चारों ओर वीरान रह गया है—सपाट मैदान; और इस ओर-छोर-हीन दिगन्त में मैं अकेली ठूँठ-सी रह गयी हूँ। इस वीरान और एकान्त क्षणों में ही यह सब लिखा है, कि जिस पति के आगे मैं अपराधिनी (?) ही रही, वह मेरा यह निवेदन स्वीकार कर लें।

उस दिन पुलिस उन्हें गिरफ्तारकर ले गयी। पुष्पा भी बड़े झमेले में पड़ी। पुलिस ने एक लम्बा-चौड़ा आरोप तैयार किया था। बैंक से कारखाने तक ले जाते समय 'सदर लैंड इंडस्ट्रीज' का खजाना लूटा गया था। चार आदमियों की हत्या हुई थी। और भी कई राजनीतिक षड्यन्त्र के आरोप थे। चार्ज शीट तैयार करने में पुलिस ने आठ महीने लगाये। मुकदमा खुला। शैल ने, पुष्पा ने, भैया ने रुपये पानी की तरह बहाये। लेकिन जिसे छुड़ाने की इतनी चेष्टा की जा रही थी, वह स्वयं अपने छोड़े जाने की ओर से उदासीन था। कुमार अपने ऊपर लगाये गये आरोपों के विरुद्ध कुछ भी कहने के लिए तैयार नहीं थे। शैल ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"हम लोगों के किस अपराध का यह दण्ड दे रहे हैं?"

कुमार निषंग भाव से बोले—"मेरे दण्ड को, मेरे दुख को, तुम लोग अपना मानती हो, इससे मन में कभी-कभी एक अनजाना सुख उत्पन्न होता है। लेकिन इस संसार में अपना ही दुख क्या कम है, जो दूसरों का दुख ओढ़कर बैठी हो ?"

शैल बोली—"और आप ? आपको मैं क्या कहूँ ? जो दूसरों का अपराध अपने सिर पर ओढ़ लेना चाहते हैं और अपने को दण्ड देने के लिए विकल हैं ?"

कुमार—यह क्या दूसरों का अपराध है शैल ? तू भी यही कहेगी ? पुलिस ने जो आरोप लगाये हैं, उससे मैं अपने को किस प्रकार निवारूँ ? मैंने बहुत सोचा है, निवारण का कोई मार्ग नहीं दिखा है। 'सदर लैंड इंडस्ट्रीज' के रुपये मेरे हाथ में थे। पुलिस को अपराधी चाहिए। मैं अपने को बचाकर किसे आगे करूँ ?—राजन को ?

शैल—अपराधी दण्ड पाये, तो इसमें आपको क्या एतराज है ?

कुमार—तू बार-बार दण्ड की बात बीच में क्यों लाती है शैल ? दण्ड यहाँ कोई नहीं देता, और न कोई पाता है। भाग्य को चाहे तू न माने, मैं मानता हूँ, जीवन से भाग्य बदला लेता है। जीवन जिसको जितना उठाता है, जितना फैलाता है, भाग्य उससे उतना ही कठोर बदला लेता है। जीवन ने ईसा को कितना फैलाया था ? बदला भी भाग्य ने उसी प्रकार लिया। हिटलर को उठाया और पीस दिया। गाँधी को इसी ने इतना उठाया, इतना फैलाया कि बस रे बस ! और बदला भी इस प्रकार लिया कि दो क्षणों में सब मिट गया। उस भाग्य के आगे मैं फैलना नहीं चाहता। सिमट-कर रहने दो। दण्ड देना प्रभु के हाथ में है। वह देगा, तो पाऊँगा। तू रोकेगी, अदालत रोकेगी, तब भी वह दण्ड नहीं रुकेगा। वह

आयगा और मुझको भोगेगा। और जिस राजन की बात करती हो, वह अधिक दण्ड पा रहा है। उसे और दण्ड नहीं चाहिए।

शैल आगे कुछ नहीं कह सकी। चुपचाप लौट आयी।

मैंने पूछा, तो शैल बोली—"मैं क्या कहूँ? जो आदमी सब के भाग का जहर स्वयं पीकर मर जाना चाहे, उसे कौन बचा सकता है?" और उसकी आँखों में आँसू भर आये। गयी रात तक उसके कमरे से सिसकने की आवाज आती रही।

मुकदमा खुला तो कुमार ने अपना लिखित बयान दिया। बयान कोई बड़ा नहीं था। बस चार सतरों में खतम था—

"....पुलिस ने जो आरोप लगाये हैं, उन्हें मैंने देखा है। इस सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि जो अटैची मेरे पास थी, वह मेरी नहीं थी। उसमें कितने रुपये थे, यह मैं नहीं जानता। अस्सी हजार थे, तो होंगे। पुलिस का कहना है कि वे रुपये 'रुदर लैंड इंडस्ट्रीज' के थे और उन रुपयों के लिए डाका डाला गया था और चार आदमियों की हत्या हुई थी। पुलिस के इस कथन के विरुद्ध मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है। अगर कहीं डाका पड़ा था और हत्या हुई थी, तो (ईश्वर साक्षी है) उसमें मेरा हाथ नहीं था। मेरा अपराध इतना ही है कि एक अटैची मुझे मिली थी, जिसमें (पुलिस के कथनानुसार) अस्सी हजार रुपये थे। वह अटैची मेरे पास कैसे आयी, यह मैं नहीं बतला सकता। इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना है।"

इसके बाद चार महीने तक कानूनी दाव-पेंच चलते रहे। लेकिन उससे होता क्या था? अदालत ने तेरह साल कैद की सजा सुनायी। अदालत का क्या फैसला होगा, यह सबों को मालूम था। किसी को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। चुपचाप सबों ने सुन लिया।

फैसले के तीन दिनों के बाद राजन का एक पत्र आया। पत्र कुमार के नाम लिखा था। मैंने चाहा कि पत्र न खोलूँ और ज्यों-का-

त्यों पति के पास भेज दूँ। लेकिन भीतर बैठा न जाने कौन मन को फुसलाता रहा—खोल न निरुपमा ! देख न, क्या लिखा है। और मैंने पत्र खोल दिया। लिखा था—

आज सबों के मोह का बन्धन तोड़कर जा रहा हूँ। लगता है, देश बहुत पीछे छूटता जा रहा है और मैं अकेला बढ़ आया हूँ ! बढ़ तो आया हूँ, लेकिन पीछे का सब कुछ याद आ रहा है। गाँव याद आ रहा है, गाँव के लोग याद आ रहे हैं—अपने, पराये, उनके चेहरे—सब व्यथा से मन को भर देते हैं। यहाँ दूर आकर देश को समग्र कर देखता हूँ, तो लगता है कि प्रकृति की सारी सम्पन्नताओं के बीच देश का जीवन रुका है। यहाँ की ३८ करोड़ जनता, जिनके पीले मायूस चेहरे पर करुणा बिछी रहती है, पिछले ५०० वर्षों से मुहताज रही है। मन के भाव स्वतंत्र होकर कभी फैलने नहीं पाये, मन में दबे रहे। मन का वह संकोच संस्कार से बन्धता गया और भारत के जन का व्यक्तित्व हीन होता गया। चरित्र तो था, लेकिन बन्धा था; उन्नत नहीं हो सका। अतः आज इस संक्रमण की स्थिति में भारत का राष्ट्रीय चरित्र एकाएक ही हिल गया है और ढह रहा है। पश्चिमी सभ्यता की नग्न भूख ने यहाँ का सारा कुछ निगल लिया है। अर्थ का दुर्द्धर्ष चक्र निरन्तर चल रहा है। पैसा ! पैसा !! पैसा !!! चारों ओर से यही चीख सुनाई दे रही है। यहाँ असंख्य जन को आज रोटी चाहिए, कपड़ा चाहिए, सिर पर छप्पर चाहिए, शिक्षा चाहिए। कौन प्रबन्ध करेगा इसका ? जो देश को मार्ग बतलाते हैं, नेता कहलाते हैं, वे अपनी सत्ता सुदृढ़ करने में लगे हैं। देश की, समाज की बात कोई नहीं सोचता। सब निज की बात ही सोचते हैं। उनका चरित्र आज सुदृढ़ नहीं है—जैसे बालू की भीत थी, सब ढह गयी, बिखर गयी। जिसके बल पर जनतन्त्र की चीख-पुकार मच रही

है, उस जनता के जीवनका क्या होगा, क्या हो रहा है, कोई नहीं देखता। देश की नाव किस घाट जाकर लगेगी, कौन जाने !

सब कुछ देखकर मन में बहुत पीड़ा होती थी। रो नहीं सकता था, इसलिए क्रोध होता था। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने हम सबों की रीढ़ तोड़ दी है। यह रीढ़ जुड़े और समाज का प्रत्येक व्यक्ति सबल हो, यह कौन नहीं चाहेगा ? लेकिन यह सब कैसे हो, किस मार्ग से हो, इस सम्बन्ध में मेरे और तुम्हारे विचार प्रारम्भ से ही भिन्न रहे हैं। तुम्हारी बातों में आस्था नहीं रहते भी मैंने तुम्हारा साथ दिया; लेकिन वह निबह नहीं सका।

तुम जिन विचारों को लेकर बढ़ रहे हो, वह अव्यावहारिक है। शासन-हीन अराजक समाज की कल्पना किताबी बात है : कि कोई शासक नहीं हो, दण्डधारी कोई शासन-सत्ता न हो। समाज की प्रत्येक इकाई निज का शासक हो और उसके कार्य निज के विवेक से शासित हों। यह अव्यावहारिक है कुमार,—एकदम अव्यावहारिक ! मनुष्य स्वभाव से उच्छृङ्खल है। उसे श्रृङ्खला में बान्धने के लिए शासन चाहिए, दण्ड चाहिए। दण्ड का विधान कौन करेगा ? समाज का विवेकशील इकाई ही न ? यहीं शासन का जन्म होता है। अतः शासन-हीन समाज की कल्पना व्यर्थ है। एक दिन तुम पाओगे कि तुम अपने सपनों के मजार पर अकेले खड़े हो—आगे-पीछे कोई नहीं है।

तुम अराजक समाज चाहते थे, मैं भी अराजकता चाहता था, जिसमें सबों को तोड़कर बनाने की वांछा प्रबल थी। तुम्हारे समाज को मेरी अराजकता से खतरा था। मैं वह सब छोड़कर चला आया हूँ। अब मुझसे किसी को कोई खतरा नहीं है। राजन अब किसी के मार्ग में कभी नहीं आयगा। बस !

—राजन।

पत्र कहाँ से लिखा गया था, यह कहीं से स्पष्ट नहीं था। डाक का टिकट नाइजेरिया का था, लेकिन टिकट पर जो मुहर थी, वह ऐसी मिटी थी कि पढ़ी नहीं जा रही थी।

२० सितम्बर को पति नैनी जेल से अहमद नगर भेजे जाने वाले थे। भैया, पुष्पा और मैं उनसे जेल में मिलने गयी। अधिकारियों ने उस दिन मिलने की विशेष सुविधा दे रखी थी। शैल वहाँ पहले ही पहुँची हुई थी। पति एक गुजराती नवयुवक से बातें कर रहे थे। कह रहे थे—"जिन्दा रहो, और देश को जिन्दा रखो! देश जिन्दा रहेगा, तो स्वयं गतिशील होगा और आगे बढ़ेगा। और देश क्या आजादी के बाद आगे नहीं बढ़ा है? बढ़ा है—ज्ञान में, विज्ञान में, शिक्षा में, संस्कार में। इस बीच यह भी हुआ कि जमाने की हवा का असर पड़ा है। समाज में व्यक्तिगत पूँजी के प्रति आस्था डिगी है। इसलिए संग्रह की प्रवृति में ह्रास होगा ही। क्या यह शुभ चिह्न नहीं है? बस, हृदय का जो कोमल भाग है, उसे छूओ, उसमें संवेदना जगाओ। मनुष्य का हृदय पत्थर का नहीं होता। वह जागता है, बदलता है। अतः हृदय को छूओ! सद्विवेक जागेगा, तो शासन स्वयं मिटेगा। मिटाने की कोशिश करोगे, तो संघर्ष होगा। संघर्ष में आदमी स्वयं मिटता है। दल न बनाओ! नहीं, तो दलदल में पड़ जाओगे।.... क्यों?"

उत्तर में वह प्रज्ञावान युवक भोली दृष्टि से कुमार को देखता रहा।

कुमार बोले—"जिन्दा रहोगे न?"

जैसे उस नवयुवक में जीवन भर आया हो, भीतर से वह भरा—उभरा। झुककर उसने कुमार के चरण छूए और सीधा होकर कहा—"जिन्दा रहूँगा और जिन्दा रखूँगा।"

इन बारह महीनों में कुमार के आनन को घेरकर बाल बढ़ आये थे। वे बाल रूखे बने थे। शरीर कृश हो आया था। लेकिन आँखों

में न जाने कैसी तीव्रता भर आयी थी। उन्होंने हम लोगों की ओर देखकर कहा—"ओ! आप लोग भी आ गये?...अरी पुष्पा! तू रोती क्यों है पगली? तेरह साल क्या ज्यादा होते हैं? कट-कुटकर सिर्फ नौ साल अन्दर रहना पड़ेगा। लिखने-पढ़ने में सहूलियत रहेगी।"

पति ने जब पुष्पा का नाम लिया, तो मैंने उसकी ओर देखा। वह बैरक के एक ओर दीवार से सटी रो रही थी। पति ज्यों-ज्यों बोलते पुष्पा के आँसू गल-गलकर उमरते ही आये। मैं सुन्न अन्तरिक्ष में देखने लगी। आँखों में आँसू नहीं थे, जलन थी, जिसका एहसास भी उस दम मुझे नहीं था। निकट से पति गुजरे, तो भैया ने टोका—'निरुपमा!'

अन्तरिक्ष में टिकी मेरी वह दृष्टि लौटी, तो देखा, सामने पति खड़े हैं। उन्होंने बहुत निकट आकर कहा—"नीरू, इधर आ!" और वह मुझे दीवार की ओट में एक ओर एकान्त में ले गये।

उस एकान्त में आकर उन्होंने कहा—"आज इस क्षण में हम एक दूसरे को माफ कर दें, यही ठीक है। है न?" और वह जरा मुस्कुराये।

मेरे अन्तर को फोड़कर, फफककर दर्द बाहर आया और मेरी आँखों में छा गया। उन्होंने धीरे से मेरा हाथ अपने में लिया और बहुत आहिस्ते कहा—"यह नहीं सोचना कि मैंने तुम्हें कभी गलत समझा, तुमसे घृणा की। घृणा करता, तो तुम भी मुझसे घृणा करती। यह तो मानती हो कि घृणा घृणा का ही उद्रेक करती है। लेकिन जो तुम्हारे भीतर की श्रद्धा को ही, प्यार को ही निकाल लाने में और प्राप्त करने में समर्थ रहा, मेरे भीतर का 'वह' घृणा कभी नहीं था।.... लेकिन तुम सदा भूख से व्याकुल रही। मैं अपने को तुम्हारी गोद में डालकर नहीं कह सका कि मुझे ले लो; अथवा मैं ही तुम्हें अपने बाहुओं में नहीं भर ले सका। क्यों नहीं यह सब कर सका, मैं ठीक-

ठीक नहीं जानता। और अगर जानता भी हूँ, तो माफ कर देना नीरू! आज मेरे भीतर की व्यथा कहती है—मैं दे सकता! मैं पा सकता!" और उनकी आँखों से टप से आँसू चू पड़े।

मैं टूटकर उनके चरणों में आ गिरी—"आप देवता हैं!"

उन्होंने तब बाहों में पकड़कर ऊपर उठाया। आकर मैं उनकी छाती से चिपक गयी। उन्होंने मुझे अलग नहीं किया, न उनके भीतर कोई वर्जन ही दिखा। धीरे-धीरे वह मेरी पीठ सहलाते रहे। भगवान! मैं चिर-चिरन्तन तक इसी प्रकार लिपटी रहूँ। मुझे और कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं चाहिए भगवान!

मैंने आँखें खोलकर उन्हें देखा। वह करुण-करुण मुझी में देख रहे थे। अत्यन्त अवश स्वर में बोले—"नीरू!"

उनकी दृष्टि में जो भाव उभर-उभर कर आ रहा था, वह मैं नहीं झेल सकी और अधीर होकर उन्हें और अपने में कस लिया। उन्होंने सिक्त कण्ठ से कहा—"मेरे लिए दुख न मानना। मैं लौटूँगा।"

मैं रो पड़ी—"मैं जानती थी, एक दिन इसी तरह मझधार में रह जाऊँगी। मुझे छोड़कर आप चल देंगे!"

पति ने अवरुद्ध कण्ठ से सिर्फ इतना ही कहा—"नीरू...."

मैंने उनकी आँखों में देखते हुए कहा—"आज आप एक बार कह दें कि आपने मेरे कर्म-अपकर्म सबको माफ कर दिया।"

वह उसी प्रकार थमे मेरी आँखों में देखते रहे।

मैं बोली—"विवाह के पहले मैं पतित रही हूँ। लेकिन विवाह के बाद आपकी रही हूँ—एकान्ततः आपकी। मेरे पत्नीत्व पर भी क्या आप अविश्वास करते रहे?"

उनकी आँखों से दो बूँद चू आकर टप से मेरे गाल पर गिरी। उन्होंने मुझे अपनी छाती में गहरे भींच लिया और ओठों को ऐसे

चूमा कि युग-युगों तक वे ओंठ मेरे से अलग नहीं होंगे। उन दो क्षणों में ही मैंने सब कुछ पा लिया।

तब उन्होंने मुझे अपने से अलग किया। अपने दोनों हाथों में मेरे कपोल लेकर देखते रहे—"मेरे लिए रोओगी तो नहीं?" यह कहते-कहते उनकी आकृति पर कुमारी व्रीड़ा की चारु छाया घिर आयी।

मैं क्या बोलती? आँखों में जो आँसू थे, वे थमे रहे।

पुलिस के एक अफसर ने आकर हमें सचेत किया—"बाहर गाड़ी खड़ी है।"

पति ने कहा—"मैं चलूँगा।"

मैंने झुककर उनके चरणों की धूल ले ली।

जेल के बाहर पुलिस वान में चढ़ने के पहले वह बोले; पुष्पा से बोले—"निरुपमा तुम्हारे साथ रहेगी। अब तो परिवार का यही अर्थ-बल है। कल पिता जी और माता जी आये थे। मैंने उनसे कह दिया है।" और हथकड़ी वाले हाथ जोड़कर उन्होंने सबों के प्रति नमस्कार किया और वान में जाकर बैठ गये।

गाड़ी जब नजरों से ओझल हो गयी, तो पुष्पा छिन्न लता-सी मेरी गोद में आ गिरी। मैं स्वयं अपने को सम्हालने में असमर्थ थी, उसे क्या सम्हालती?